योगार्य्यभाष्य

भाष्यकर्ता—

श्रीपण्डित आर्य्यमुनि जी

प्रोफेसर संस्कृत फिलासफी

डी. ए. वी. कालेज लाहौर

शिवरात्रि २०२९ वि०] [मूल्य ५-००

ओ३म्

प्रकाशक का निवेदन

महर्षि पतञ्जलि के योग शास्त्र पर महर्षि व्यास का सबसे प्राचीन भाष्य मिलता है। उसी को आधार बनाकर सैंकड़ों विद्वानों ने अपने भाष्य वा टीकाएं योगदर्शन पर की हैं। अज्ञान वा पक्ष-पात के कारण व्यासभाष्य के तथा मूलसूत्रों के विरुद्ध भी लिखने का साहस अनेक विद्वान् कर बैठे, जो वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध और मिथ्या है। ऐसी टीका तथा भाष्यों से लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। वैदिक विद्वान् पं० आर्यमुनि के "योगार्य-भाष्य" की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि यह वैदिक सिद्धान्तों के सर्वाधिक अनुकूल है। इस युग के महान् योगी, प्रकाण्ड पण्डित, पूर्ण विद्वान्, पूर्ण जितेन्द्रिय, पूर्ण ब्रह्मचारी, महर्षि दयानन्द सर-स्वती जी थे। उन द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप पं० आर्यमुनि जी अपने समय के एक मर्मज्ञ विद्वान् थे। ऐसे आर्य विद्वान् तो अनेक हुये हैं, जिन्होंने एक दो शास्त्रों पर अपने भाष्य किये किन्तु ऐसे विद्वान् केवल पं० आर्यमुनि जी हैं जिन्होंने अपनी लेखनी सभी शास्त्रों पर उठाई और अपने जीवनकाल में ही सभी छवों दर्शनों पर पूर्ण भाष्य किये तथा उनके सभी दर्शनों पर आर्यभाष्य प्रकाशित भी हुए। बहुत समय से उनके दर्शनों के भाष्य उपलब्ध नहीं। आर्यजनता को यह अभाव वर्षों से खटकता था। इसी अभाव को दूर करने के लिये महामहोपाध्याय पं० आर्य मुनि जी के षड्दर्शनों के भाष्य शीघ्र ही प्रकाशित करने की योजना "हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर" ने बनाई है। उसी योजना के अनुसार "योगार्यभाष्य" पाठकों की सेवा में उपस्थित

कर रहे हैं। आर्यजनता ने इसका यथोचित स्वागत किया तो सभी दर्शनों के पं० आर्यमुनि जी कृत "आर्यभाष्य" जनता को शीघ्र ही उपलब्ध होजायेंगे।

योगदर्शन का भाष्य प्रथम क्यों ?

योगार्यभाष्य को प्रकाशित करने का संकल्प अनेक वर्षों से मेरे मन में अङ्कुर के रूप में निहित था परन्तु अनेक संस्थाओं के कार्यबाहुल्य के कारण मैं इसे पूर्ण नहीं कर सका। भारत की राजधानी दिल्ली में जब विश्वयोग सम्मेलन हुआ और वहां बड़ी संख्या में देश विदेशों से योग के साधकों और जिज्ञासुओं के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ तो उसी समय से इस धारणा ने दृढ़ रूप धारण किया कि योगादि दर्शनों के प्रामाणिक भाष्य शीघ्र प्रकाशित होने चाहिएं। अपनी युवावस्था में अनेक वर्ष योग की साधना में बिताये थे। उसी समय अनेक बार योगदर्शन के अनेक भाष्यों का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय भी किया था तथा योग-दर्शन का दो बार गुरु चरणों में बैठकर अध्ययन करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। स्वर्गीय पूज्य पं० विश्वेश्वर जी दर्शनाचार्य आचार्य गुरुकुल वृन्दावन के चरणों में सर्वप्रथम गुरुकुल वृन्दावन में ही योगदर्शन का आद्योपान्त अध्ययन किया था। उसी समय अनेक विद्वानों के योग दर्शन पर भाष्य भी देखने का शुभावसर मिला। अनेक अनुभवी विद्वानों द्वारा लिखित योगसाहित्य भी पढ़ा। उन्हीं दिनों "विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धिनी" ॥३५॥ सूत्रानुसार गन्धादि तन्मात्राओं का अभ्यास पूज्य पं० प्रियरत्न जी आर्ष के निर्देशानुसार किया था। उनसे मन की स्थिति के सम्पादन में बड़ी सहायता मिली और योगदर्शन

तथा प्राचीन योगविद्या में अगाध श्रद्धा होगई। फिर हैदराबाद आर्य सत्याग्रह में कई मास अर्च्यचरण पं० मुक्तिराम जी योगी के चरणों में रहकर प्राणायाम आदि का अभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसने सोने पर सुहागे का कार्य किया। कुछ काल पश्चात् योगदर्शन के अध्ययनार्थ गुरुकुल रावलपिण्डी में पूज्य पं० मुक्तिराम जी के चरणों में रहा। वे आर्य जगत् के दर्शनों के सर्वमान्य विद्वान् और योगी थे। आद्योपान्त योगदर्शन व्यास-भाष्य सहित उनके चरणों में बैठकर श्रद्धापूर्वक पढ़ा। उनकी कृपा से योग के अनेक रहस्य समझे, अनेक भ्रम दूर हुये। उन दिनों भी अनेक विद्वानों की योगदर्शन पर संस्कृत तथा हिन्दी की टीकायें वा भाष्य देखे और उन्हीं दिनों यह पूर्ण निश्चय हो गया कि योग-दर्शन ही योगविद्या का भण्डार है और महर्षि पतञ्जलि, महर्षि और अपने समय के महान् योगी थे और इस युग के महान् योगी महर्षि दयानन्द जी महाराज थे। उनके अनेक शिष्य भी पूज्य स्वामी लक्ष्मणानन्द जी, पूज्य स्वामी आत्मानन्द जी (पं० मुक्ति-राम जी) आदि अच्छे योगी हुये हैं। ये सभी योगदर्शन के अष्टांग योगानुसार साधना करके योगी बने।

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय=ओंकार जप के अनन्तर योग अर्थात् समाधि का अभ्यास करे और समाधि के अनन्तर ओंकार का जप करे, क्योंकि ओंकार के जप से तथा समाधि के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश होता है। प्रभु के दर्शन होते हैं। उसका साक्षात्कार होता है। यह मैंने योगदर्शन के अध्ययन और अष्टांग योग की साधना से

प्रत्यक्षानुभव किया। अष्टांग योग की रीति ही उपासक के संकल्पों को पूर्ण कर देती है। क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु प्रणवोपासना से प्रसन्न होकर जब कृपा करता है तो अभ्यासी का चित्त शान्त होकर समाधि में स्थित होजाता है। समाधि वा योग के विना विवेक-ज्ञान नहीं होता, और जब चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग से विवेक-ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब विवेकज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इसी कारण आप्त पुरुष महान् योगी महर्षि पतञ्जलि जी महाराज ने जगत् के उद्धार की इच्छा से योगशास्त्र में योगविद्या का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया है। योगदर्शन के चारों पादों में योग के लक्षण, भेद, उपाय और प्रयोजन आदि का भली-भांति खोल-कर उपदेश किया है। योगशास्त्र को चार भागों में विभाजित कर और परम गहन योगविद्या को १९५ सूत्रों द्वारा देववाणी संस्कृत में ऐसी सरल व्याख्या की है कि योगविद्या साधक को सहज में हृदयंगम होजाये। महर्षि व्यास ने योगदर्शन पर अपनी पवित्र लेखनी द्वारा भाष्य करके इस योगविद्या की द्विगुण शोभा कर दी है। संसार महाभारत के पश्चात् इस पवित्र योगविद्या को एक प्रकार से भूल ही गया था। महर्षि दयानन्द ने स्वयं पूर्णयोगी बनकर इस प्राचीन योगविद्या का पुनरुद्धार किया। योगदर्शन पर पं० आर्यमुनि जी ने आर्यभाष्य की रचना करके चार चांद लगा दिए। योगार्यभाष्य महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों के सर्वाधिक अनुकूल है इसीलिये अनेक वर्षों से अप्राप्य इस ग्रन्थरत्न को ही सर्वप्रथम प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें मिल रहा है। इससे बढ़कर और हर्ष की वार्ता क्या हो सकती है।

६ शास्त्रों का "आर्यभाष्य" ५०) में

६ शास्त्र (१ योग, २ सांख्य, ३ न्याय, ४ वैशेषिक, ५ मीमांसा ६ वेदान्त) महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि द्वारा विरचित "आर्यभाष्य" सहित १० भागों में छप रहे हैं जिन की पृष्ठ संख्या लगभग पांच हजार होगी। योग दर्शन छपकर तैयार हो गया है।

शिवरात्रि २०२६ (३ मार्च १९७३) तक अग्रिम जमा करवाने वाले सज्जन ६ शास्त्रों का आर्यभाष्य ५० रु० में प्राप्त कर सकेंगे। इसके पश्चात् ६ शास्त्रों का मूल्य १००) सौ रुपये होगा।

६ शास्त्र "आर्यभाष्य" सहित १० भागों में एक ही आकार (२०×३०=१६ साइज) में बढ़िया कागज पर शुद्ध और सुन्दर छपे हुए आपको अन्यत्र नहीं मिल सकेंगे। इसलिये अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक बनकर लाभ उठायें।

ओमानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर।

हमारे प्रमुख प्रकाशन

१.	प्रदीप-उद्द्योत-विमर्श सहितं व्याकरणमहाभाष्यम्	८०.००
२.	छन्दःशास्त्रम्	२.००
३.	काव्यालंकारसूत्राणि	१.२५
४.	कारिकाप्रकाश	१.२५
५.	दयानन्दलहरी	१.२५
६.	ब्रह्मचर्यामृतम्	.५०
७.	विरजानन्द चरितम्	१-००
८.	नारायणस्वामिचरितम्	.७५
९.	ब्रह्मचर्यशतकम्	.६५
१०.	गुरुकुलशतकम्	.५०
११.	ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्	.५०
१२.	चारुचरितामृतम्	१.००
१३.	भारतेतिहासः	३.००
१४.	तत्त्वबोध	१.००
१५.	लिङ्गानुशासनवृत्तिः	१.२५
१६.	स्थावर जीव मीमांसा	२.००
१७.	विरजानन्दचरित (हिन्दी)	१.५०
१८.	वैदिक धर्म परिचय	.६५
१९.	छात्रोपयोगी विचारमाला	.६५
२०.	महर्षि दयानन्द जीवन कथा (भजन)	.७५
२१.	असली अमृतगीता १ भाग	.४०
२२.	असली अमृतगीता २ भाग	.३०
२३.	बस्तीराम रहस्य	.३०
२४.	मानस दीपिका	१.००
२५.	पोप की नाखर	.३०
२६.	पाखण्ड खंडनी	१.५०
२७.	बस्तीराम अग्निबाण	१.००
२८.	वैदिक भारत में यज्ञ	२.००
२९.	दो महात्मा (ईसा, दयानन्द)	१.००
३०.	माया का खेल	२.५०
३१.	सामयिक समाधान	.५०
३२.	बाल शिक्षा	.२०
३३.	मनोविज्ञान शिव संकल्प	३.५०
३४.	वेद प्रवेश (१-२ खण्ड)	२.५०
३५.	आर्य सामाजिक धर्म	.७५
३६.	फिट् सूत्र प्रदीप	१.००
३७.	महर्षि दयानन्द जीवन	२.२५
३८.	वेद विमर्श (प्रथम भाग)	२.००
३९.	आसनों के व्यायाम	१.००
४०.	सुखी जीवन	२.००
४१.	घर का वैद्य (दोनों भाग)	२ ००
४२.	रामप्रसाद बिस्मिल	.७५
४३.	ईशोपनिषद् व्याख्या	.७५
४४.	संस्कृत प्रबोध	१.५०
४५.	एक सत्पुरुष की दिनचर्या	१.२५
४६.	गीत कुसुमाञ्जलि	.७५
४७.	जीव का परिमाण	.७५
४८.	कन्या और ब्रह्मचर्य	.७५

प्रकाशक—हरयाणा साहित्य संस्थान, पो० गुरुकुल झज्जर, रोहतक

ओ३म्

भूमिका

(१)

भाषा में बहुविध भए, योग सूत्र के भाष्य ।
मूल सूत्र के अर्थ पर, भया ना आर्य्य भाष्य ॥

(२)

इस आशय से लिख दिया, भाषा में यह भाष्य ।
वैदिक मत के मर्म का, सम्यक् किया प्रकाश ॥

(३)

जड़ तत्त्वों के ध्यान का, इसमें किया निरास ।
या में साक्षी देखलो, यथाभिमत को भाष्य ॥

(४)

वैदिकमुनि के भाष्य में, यही निरालो भेद ।
एक तत्त्व अभ्यास से, किया अविद्या छेद ॥

यद्यपि योग शास्त्र पर कई एक ग्रन्थ भाषा में लिखे जा चुके हैं तथापि निम्नलिखित हेतुओं से आर्य्यभाष्य का प्रकाशित करना अत्यन्त आवश्यक था.—

१–कई एक लेखक तो टीका टिप्पणों के मिथ्यार्थ तिमिर से तिरोहितनयन होकर नूतन अर्थ को दूषित ही समझते हैं इसलिये जो किसी पूर्व टीकाकार ने अर्थ न किये हों चाहे वह वैदिक हों और सूत्र के अक्षरों से भलीभांति निकलते हों तथापि ऐसे अर्थों

का स्वीकार उनके लिये पाप है जैसाकि—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽव-स्थानम्" यो० १।३ इस सूत्र के अर्थ जीवात्मा में चित्तवृत्ति निरोध के किये हैं, ऐसे अर्थ करना योगशास्त्र के आशय से सर्वथा विपरीत हैं, यदि जीव अपने स्वरूप में चित्तवृत्ति लगाने से समाधि सिद्ध कर सकता तो "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" यो० २।४५ यह सूत्र न पाया जाता कि ईश्वर की उपासना से समाधि सिद्ध होती है।

२—"यथाभिमतध्यानाद्वा" यो० १।३९ "स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा" यो० १।३८ इस प्रकार के सूत्रों में जड़ वस्तुओं को ही उपास्य देव बना दिया है, अधिक क्या "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" यो० २।३२ इस सूत्र के अर्थ भी स्थूल तत्त्वाभ्यास के किये हैं।

३—सम्प्रज्ञात योग के अर्थ जड़वस्तुविषक चित्तवृत्ति निरोध के माने हैं।

इन दोषों का कहां तक वर्णन करें, कोई उक्त प्रकार की जड़ उपास्ति को योगसूत्रों से पृथक् नहीं कर सका, किसी ने योगी के शरीर का इतना लम्बा बढ़ जाना माना है कि योगी हाथ से चांद को पकड़ सक्ता है, कोई कहता है कि अगस्त्य का समुद्र पी जाना ठीक है, इत्यादि अनर्थों का भण्डार योगसूत्रों को बना दिया है, इसलिये योगसूत्रों पर आर्य्यभाष्य का होना अत्यन्त उपयोगी समझा गया।

योग वह शास्त्र है जिसके द्वारा निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति होती है, धर्ममेघ समाधि आदि मुक्ति के मुख्य साधनों का एकमात्र

इसी शास्त्र में वर्णन है, विभूति का सामर्थ्य जो मनुष्य को देवता बना सकता है उसका वर्णन केवल इसी शास्त्र में है, यम नियमादि साधन जो समुच्चय संसार की समस्त पुस्तकों में किसी स्थान में वर्णित नहीं उनका भण्डार यही वैदिक दर्शन है, सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग जो सुखाकर हैं उनका आकर यही शास्त्र है, एवंविध इस रत्नाकररूप दर्शन का मन्थन करके निम्नलिखित सार इस भाष्य में निकाला गया है।

समाधिपाद में सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दो प्रकार के योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सम्प्रज्ञातयोग उस अवस्था का नाम है जिसमें जीवको ईश्वर के आनन्दादिगुण स्पष्ट भासते हैं और असम्प्रज्ञातयोग वह है जिसमें प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कारों का सर्वथा निरोध हो जाता है, यह वह दशा है जहां जाकर यह कहना पड़ता है कि "न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते"=वाणी उस अवस्था का कथन नहीं कर सक्ती, उस आनन्द को पुरुष स्वयं ही जानता है, इस अवस्था में सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेश और उनकी वासनाओं का बीज मिट जाता है इसलिये इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

साधनपाद में कर्मयोग का वर्णन है, यह वह कर्मयोग है जिस के विषय में कृष्णजी गीता में यह लिखते हैं कि इस योग का अंशमात्र भी बड़े-बड़े दुःखों से बचालेता है, इसीलिये कृष्ण जी ने गीता में यह भी लिखा है कि "तस्माद्योगी भवार्ज्जुन" इसलिये योगी बन, यह लिखकर योगी को सबसे श्रेष्ठ माना है, योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इन आठ अङ्गों का वर्णन इसी पाद में है।

तृतीय विभूतिपाद में संयमों का वर्णन है, संयम के अर्थ किसी वस्तुविषयक दृढ़ अभ्यास से उस सामर्थ्य को बढ़ा लेने के हैं, इस पाद में विविध प्रकार की विभूतियों का वर्णन है जिनके महत्त्व को पाठक पढ़कर स्वयं जान सकते हैं। इतना हम सूचित कर देते हैं कि किसी असम्भव सामर्थ्य का बढ़ना सूत्रकार ने इनमें नहीं माना किन्तु संयमद्वारा उचित सामर्थ्यों का बढ़ा लेना लिखा है। तत्त्व यह है कि भूतजयी और इन्द्रियजयी होने का प्रकार इस पाद में सम्यग् रीति से वर्णन किया गया है जो प्रत्येक मनुष्य को उपयोगी है।

चतुर्थ कैवल्यपाद में चित्त और आत्मा का भेद प्रतिपादन करते हुये सङ्गति से बाह्यपदार्थों को मिथ्या माननेवाले नास्तिकों के मतों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है और फिर अन्त में कैवल्य का इस प्रकार वर्णन किया है कि जब पुरुष विवेकख्याति के फल की इच्छा नहीं करता अर्थात् पदार्थों के विशेषज्ञान में रुचि नहीं रखता उस समय परवैराग्य के उत्पन्न होने से व्युत्थान संस्कारों का सर्वथा क्षय होकर एक विवेकख्यातिमात्र ही चित्त की अवस्था हो जाती है, इसका नाम धर्ममेघ समाधि है। यह समाधि सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशों का क्षय करके मनुष्य के कैवल्य का हेतु होती है, कैवल्य का वर्णन हमने मुक्ति विषय में विस्तारपूर्वक किया है।

यहां प्रकृति के बन्धन से बचने के लिये बन्ध का वर्णन करना आवश्यक है, इस विषय में योगशास्त्र की प्रक्रिया यह है कि दृष्य प्रकृति और द्रष्टा=जीव, इन दोनों का जो संयोग है वही बन्ध का हेतु है और वह संयोग जीव प्रकृति का स्वस्वामीभाव अथवा दृश्य द्रष्टृभाव अथवा भोग्य भोक्तृभाव रूप है अर्थात् पुरुष अपने आप

प्राकृत पदार्थों का स्वामी बन जाता है अथवा उनको दृश्य समझ-कर द्रष्टा बन जाता है अथवा भोग्य समझकर भोक्ता बन जाता है, इसी का नाम प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध का घटक संयोग है और इस संयोग का हेतु योगशास्त्र में केवल अविद्या मानी गई है और वह अनादिकाल से वासनारूप में प्रवृत्त है, इसीलिये प्रवाहरूप से अनादि है स्वरूप से नहीं, इसलिये उसकी निवृत्ति विवेकख्याति द्वारा होसकती है। वह इस प्रकार कि प्रथम विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता है जिसको अपरवैराग्य कहते हैं, इस वैराग्य के अनुष्ठान से चित्त की राजस तामस वृत्तियों का निरोध होजाने से सम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति होती है, इस योग में प्राकृत वृत्तियां बनी रहती हैं इस-लिये इस योग से अविद्या का नाश भली भांति नहीं होसकता, इसी कारण इसको दुःखरूप समझकर पुरुष परवैराग्य में प्रवृत्त होता है, इस वैराग्य के अभ्यास से योगी को प्रकृति पुरुष का साक्षात्कार होजाता है अर्थात् प्राकृत बन्धन उसको सर्वथा घृणित तथा हेय प्रतीत होते हैं और परमात्मा का दिव्य स्वरूप परमप्रिय प्रतीत होने लगता है, इस अवस्था में परमात्मा के अपहतपाप्मादि भाव को धारण करके योगी धर्म्म से परिपूर्ण होजाता है, जैसे श्रावण की घटाएं अपरिमित वारि वर्षा सकती हैं इसी प्रकार योगी भी अपरिमित धर्म की वृष्टि कर सकता है अर्थात् उसकी सङ्गति और दर्शन से पुरुष धार्मिक होजाते हैं, इसी वैराग्य का फल धर्म-मेघ समाधि है, इसी समाधि से अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों की निवृत्ति होजाती है और इसी से पुरुष का गुणाधिकार समाप्त होकर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

जीव का कैवल्य अर्थात् ईश्वर विषयक आनन्द का उपभोग निरवधिक नहीं है प्रत्युत अवधिवाला है, क्योंकि यह साधनजन्य

होने से सादि है इस कारण नित्य नहीं होसकता। जो लोग इस में यह युक्ति दिया करते हैं कि सादि पदार्थ भी अनन्त हो सकता है जैसा कि घट का ध्वंस सादि है और अनन्त है, यह युक्ति इसलिये ठीक नहीं कि अभाव पदार्थ में उक्त नियम लग सकता है भाव में नहीं।

कैवल्य के अनन्त मानने में और दोष यह है कि जब प्रवाहरूप से अविद्या अनादि है तो उसका सर्वथा उच्छेद कैसे हो सकता है अर्थात् वासनारूप अविद्या से धर्माधर्म, उससे सुख दुःख, सुख दुःख से राग द्वेष, राग द्वेष से फिर धर्माधर्म, यह चक्र जब अनादि समय से चल रहा है तो सर्वथा निरुद्ध कैसे हो सकता है, हां इतना अवश्य हो सकता है कि गुणाधिकार समाप्त होने पर अर्थात् जब प्रकृति के गुण मुक्तपुरुष के बन्धन का हेतु नहीं रहते और ईश्वरानन्द के उपभोग में जीव निमग्न होजाता है उस अवस्था में यह चक्र सर्वथा निरुद्ध होजाता है, इसी भाव से ऋषि महर्षियों ने कैवल्य का निरवधिक वर्णन किया है, वास्तव में कैवल्य निरवधिक नहीं, वाचस्पतिमिश्र ने इसमें यह सन्देह उठाकर कि जब क्रमशः प्रत्येक जीव के मुक्त होते होते गुणाधिकार सर्वथा समाप्त होजाएगा तो संसार का सर्वथा उच्छेद होजाएगा, इसका उत्तर यह दिया है कि जीव असंख्यात हैं अर्थात् अगणित हैं जिनकी गणना नहीं हो सकती, इसलिये संसार का उच्छेद नहीं हो सकता, वाचस्पति मिश्र जो दार्शनिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ थे और जिन्होंने षड्दर्शनों के भाष्यों को स्वभाष्य भूषणों से विभूषित कर दिया है ऐसे विद्वान् का भी यह लेख है कि ईश्वर की दृष्टि में जीव असंख्यात हैं सर्वथा युक्तिशून्य प्रतीत होता है। इसको हम ही युक्तिशून्य नहीं

कहते, देखो श्रीभाष्य ब्र० सू० २।१ आरम्भणाधिकरण जिसमें यह लिखा है कि यदि एक एक कल्प में भी यदि एक एक पुरुष मुक्त हो तो भी समय के अनन्त होने से ऐसा समय अवश्य आजायेगा कि संसार का सर्वथा उच्छेद हो जायगा, यदि यह कहा जाय कि जीव असंख्येय हैं, इसलिये मुक्त होते होते भी उनकी संख्या की समाप्ति न होगी तो प्रष्टव्य यह है कि क्या ईश्वर के ज्ञान में भी उनकी संख्या नहीं है ? यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, यदि कहा जाय कि जीव वास्तव में निस्संख्येय हैं फिर उनकी संख्या न जानने से ईश्वर की सर्वज्ञता में क्या दोष ! क्योंकि ईश्वर तो जो जैसा पदार्थ हो उसको वैसा ही जानता है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न वस्तुओं में संख्या का अभाव नहीं हो सकता, देशकृत अन्त का अभाव हो सकता है जैसा कि अवकाश की कोई सीमा न होने से जिस दिशा को चले जाओ उसका कोई अन्त न मिलेगा, इसी प्रकार कालकृत् अनन्तता भी होसकती है अर्थात् काल का आदि अन्त नहीं मिल सकता क्योंकि वास्तव में उसका आदि अन्त नहीं, पर इस प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुएं अनन्त नहीं हो सकतीं क्योंकि उनकी अवधि युक्ति से पाई जाती है इसी अभिप्राय से वेद भगवान् भी कथन करता है कि—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" परमात्मा के एक अंशमात्र में अर्थात् अल्प देश में संसार के सब पदार्थ हैं। फिर जीव विचारों की गणना की तो कथा ही क्या ! इस प्रकार जीवों की संख्या नियत होने से और समय के अनन्त होने से यह पाया जाता है कि यदि जीवों की मुक्ति से पुनरावृत्ति न होती तो आज हम इस संसार की रचना को न पाते, इस रचना के पाये जाने से यह स्पष्ट है कि जीवों का कैवल्य नित्य नहीं। एवं प्रक्रियांश में योगशास्त्र में बहुत गम्भीर विषय हैं अर्थात् सत्त्व क्या है, रज

क्या है, तम क्या है, और इनसे इस दृश्यवर्ग की उत्पत्ति कैसे होती है। इस प्रक्रिया का भलीभांति इस आर्य्यभाष्य में वर्णन किया गया है और वैदिक सिद्धान्त के साथ जो विरोध आते थे उनका भले प्रकार परिहार किया है जो योग की अन्य भाषा-टीकाओं में नहीं मिलता। इन हेतुओं से आर्य्यभाष्य का निर्माण करना अत्यावश्यक था।

निखिलशास्त्रनिष्णात **पण्डित श्रीस्वामी हरिप्रसाद जी** जिन्होंने वैदिकवृत्ति लिखकर षट्शास्त्रों को सङ्गत कर दिखलाया है, जिनकी योग्यता दर्शनशास्त्र में इतनी है कि यदि उक्त स्वामी जी को दार्शनिक सिद्धान्तरूपी रत्नों का आकर कहा जाय तो अर्थवाद नहीं। इस योगार्य्यभाष्य में स्वामी जी के साहाय्य का परम उपकार मानता हूं।

दोहा

भाष्य विषय संक्षेप से, वर्णन करूं पुनीत।
राग द्वेष मति टार के, पढ़ो हमारे मीत॥

सवैयः

पाद समाधि है आदिविषे, इसमें मन का सब संयम कीना।
पूरक, रेचक, कुम्भक से गति प्राण को साधन में गहलीना॥
पाद विभूति सुसंयम ने लघुचेतन को सगरो बल दीना।
पाद तुरीय अनूप अहो जिससे चिति वारिधि को रस पीना॥

आर्य्यमुनिः

ओ३म्

अथ योगार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति—प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है और वह विवेकज्ञान चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग के बिना नहीं हो सकता, इसलिये सम्पूर्ण जगत् के उद्धार की इच्छा से योग का विस्तारपूर्वक निरूपण करने के लिये महर्षि पतञ्जलि इस शास्त्र का प्रारम्भ करते हैं :—

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

पदच्छेद—अथ । योगानुशासनम् ।

पदार्थ—(अथ) अब (योगानुशासनम्) योगशास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है ।

भाष्य–सूत्र में "अथ" शब्द अधिकार का वाचक है, अधिकार, प्रस्ताव, प्रारम्भ, यह एक ही अर्थ के बोधक हैं, समाधि अर्थ में होने वाली युज् धातु से योग शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ यहां समाधि के हैं और अनुशिष्यतेऽनेनेत्यनुशासनम् = जिससे लक्षण, भेद, उपाय, प्रयोजन, आदि प्रतिपादन किये जायें उसको अनुशासन कहते हैं ।

भाव यह है कि योग के लक्षणादि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्र का प्रारम्भ करते हैं ।

सं० अब योग का लक्षण कहते हैं :—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

पद०—योगः । चित्तवृत्तिनिरोधः ।

पदा०—(चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्तवृत्ति के निरोध को (योगः) योग कहते हैं ।

भाष्य—तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ कठ० ६।११

अर्थ—आभ्यन्तर इन्द्रिय अर्थात् बुद्धि की उस स्थिरता का नाम योग है जिसमें वह चेष्टा नहीं करती, उस समय पुरुष स्वरूप में स्थित होने के कारण क्लेश आदि प्रमाद से रहित होता है क्योंकि ईश्वरीय गुणों के प्रकाश और क्लेशादिकों के नाश का नाम योग है और यह योग जिसका इस औपनिषद दर्शन में वर्णन किया है इसी का भगवान् पतञ्जलि इस सूत्र में निरूपण करते हैं । चित्त शब्द के अर्थ यहां अन्तःकरण के हैं और वह सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति का परिणाम=कार्य्य होने से त्रिगुणात्मक है, इसी को मन और बुद्धि भी कहते हैं और इसी के घटपटादि बाह्य पदार्थ तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि आभ्यन्तर पदार्थों को विषय करने वाले परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं । यह वृत्ति त्रिगुणात्मक अन्तःकरण का परिणाम होने के कारण शान्त, घोर, मूढ़, इस भेद से तीन प्रकार की है—सात्त्विक वृत्ति का नाम शान्त, राजसवृत्ति का नाम घोर, तथा तामसवृत्ति का नाम मूढ़ है । यह वृत्तियां प्रमाण आदि भेद से कई प्रकार की हैं और इन्हीं के निरोध को योग कहते हैं, यह निरोध अभ्यास, वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान से होता है जिसका १२वें सूत्र में विस्तारपूर्वक निरूपण किया जायेगा ।

तात्पर्य्य यह है कि अभ्यास, वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान से क्लेश कर्मादिकों की निवृत्ति का हेतु शान्त, घोर, मूढ़ प्रमाण

आदि निखिलवृत्तियों के निरोधरूप चित्त की अवस्था विशेष नाम योग है।

क्षेप, मौढ्य, विक्षेप, ऐकाग्रच, निरोध, इस भेद से चित्त की पांच अवस्था हैं। रजोगुण की अधिकता से सांसारिक विषयों में आसक्तचित्त की अत्यन्त चाञ्चल्य अवस्था का नाम क्षेप है, इस अवस्थावाला चित्त क्षिप्त कहलाता है। तमोगुण की अधिकता से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से शून्य चित्त की निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, आदि अवस्था विशेष का नाम मौढ्य है, इस अवस्था वाला चित्त मूढ़ कहलाता है। सत्त्व गुण की प्रधानता से सांसारिक विषयों से उपराम हुए चित्त की कदाचित् होने वाली ऐकाग्रच अवस्था का नाम विक्षेप है, इस अवस्थावाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है। रजोगुण, तमोगुण के सम्बन्ध से रहित शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान चित्त की ईश्वर में एकतानतारूप अवस्थाविशेष का नाम ऐकाग्रच है अर्थात् जिस अवस्था में अभ्यास वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान से प्रमाण आदि राजस तामस वृत्तियों के निरोध होजाने पर अपने आत्मा तथा परमात्मा में ही चित्त की स्थिरता होती है उस अवस्था का नाम ऐकाग्रच है, इस अवस्थावाला चित्त एकाग्र कहलाता है। जिस अवस्था में आत्मा तथा परमात्मा को विषय करनेवाली सात्त्विकवृत्ति भी नहीं रहती, और चित्त निरावलम्बन हुआ क्लेश कर्मादि वासनाओं के सहित अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है और जीवात्मा अपने चैतन्यस्वरूप से परमात्मा के स्वरूपभूत आनन्द को अनुभव करता है उस अवस्था विशेष का नाम निरोध है, इस अवस्थावाला चित्त विरुद्ध कहलाता है।

इनमें तीसरी अवस्थावाले चित्त का योग में अधिकार है, प्रथम तथा दूसरी अवस्थावाले का नहीं और अन्त की दोनों अवस्थावाला चित्त योगी का ही होता है अन्य का नहीं।

सं०—जिस अवस्था में वृत्तियों का निरोध हो जाता है उस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति कहां होती है ? उत्तर :—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।३॥

पद०—तदा । द्रष्टुः । स्वरूपे । अवस्थानम् ।

पदा०—(तदा) उस अवस्था में (द्रष्टुः स्वरूपे) परमात्मा के स्वरूप में (अवस्थानम्) स्थिति होती है ।

भाष्य—जब सर्ववृत्तियों का निरोध होकर चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब इस जीवात्मा का प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, उस अवस्था मे वह अपने चेतन स्वरूप से परमात्मा के आनन्द को भोगता हुआ उसी में स्थिर होता है क्योंकि परमात्मा ही सर्व जीवों का आश्रय है ।

इसी बात का महर्षि कपिल सांख्यशास्त्र में इस प्रकार वर्णन करते हैं कि—"**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**" सां० ५।११६ अर्थ—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष की ब्रह्म के समान रूपता अर्थात् उसके स्वरूप में स्थिति होती है और इसी अर्थ को "**स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये**" इस व्यासभाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि कैवल्य=मुक्ति में प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों के सम्बन्ध से मुक्त हुआ चेतनशक्ति पुरुष परमात्मा के स्वरूप में स्थित होता है, इसी प्रकार चित्तवृत्ति निरोध काल में इसकी परमात्मा में स्थिति होती है ।

और जो आधुनिक टीकाकार इस सूत्र में "द्रष्टुः" पद से जीवात्मा का ग्रहण करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि यह कथन प्रथम तो व्यासभाष्य से विरुद्ध है जैसा कि ऊपर लिख आए हैं, दूसरे योग सिद्धान्त में जीवात्मा को कहीं भी मुख्य द्रष्टा नहीं माना किन्तु बुद्धि के सम्बन्ध से द्रष्टा माना है जैसा कि "**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**" यो० २ । २० । अर्थ—ज्ञानस्वरूप पुरुष अपने

स्वरूप से ज्ञान का अनाश्रय होने के कारण शुद्ध अर्थात् अद्रष्टा हुआ भी बुद्धि के सम्बन्ध से द्रष्टा है। तीसरे वेद और उपनिषदों में भी मुख्यतया परमात्मा को ही द्रष्टा निरूपण किया है जैसा कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ऋ० २। ३। १७, अर्थ— प्रकृतिरूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वररूपी दो पक्षी निवास करते हैं जो आपस में चेतन होने के कारण सखा अर्थात् समान धर्म वाले और सेव्य सेवक हैं, उनमें से एक कर्मफल का भोक्ता और दूसरा साक्षी अर्थात् द्रष्टा है। "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टृ" वृ० दा० ३। ८। ११ अर्थ—उस परमात्मा से भिन्न दूसरा कोई द्रष्टा नहीं है। और ऐसा मानने से "मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः=मुख्य और अमुख्य की प्राप्ति होने पर मुख्य का ग्रहण होता है। यह न्याय भी सङ्गत हो जाता है। अत एव यहां द्रष्टा पद से ईश्वर ही का ग्रहण हो सकता है जीव का नहीं।

सं०—व्युत्थानकाल में अर्थात् वृत्तियों के बने रहने पर जीवात्मा की स्थिति कहां पर होती है? उत्तरः—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

पद०—वृत्तिसारूप्यम्। इतरत्र।

पदा० (इतरत्र) व्युत्थानकाल में (वृत्ति रूप्यम्) वृत्ति के समान होता है।

भाष्य—जिसकाल में चित्त एकाग्र वा निरुद्ध नहीं, किन्तु व्युत्थान को प्राप्त है उसकाल में तप्तलोहपिण्ड की भांति बुद्धि का तादात्म्य सम्बन्ध बने रहने से चक्षुरादि के द्वारा बाह्यविषय तथा आभ्यन्तर विषयों में जिस जिस विषय के आकारवाली वृत्ति,

घोर तथा मूढ़ चित्त की वृत्तियां उदय होती हैं उस समय विवेक-ग्रह न होने के कारण मैं शान्त हूँ, मैं घोर हूँ, मैं मूढ़ हूँ, इस प्रकार पुरुष उनको अपने में आरोप कर लेता है अर्थात् बुद्धिवृत्तियों के समान आकार को धारण किये हुए प्रतीत होता है जैसा कि :—कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव ।। बृ० द०४।३।७ अर्थ—राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि इस शरीररूप संघात में आत्मा कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! जो बुद्धि के साथ मिला हुआ प्राणादिसंघात का स्वामी हृदयदेश में स्वयंज्योतिः पुरुष है वही आत्मा है और वह बुद्धि आदि के सहारे इस लोक तथा परलोक में गमन करता है और जिस जिस प्रकार बुद्धि की वृत्तियां उदय होती हैं वह भी उन्हीं के समान भासता है। तात्पर्य यह है कि पुरुष व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्ति के समानवृत्तिवाला होता है।

यहां यह भी जानना आवश्यक है कि बुद्धि की भांति पुरुष की कोई वृत्ति नहीं है, केवल बुद्धि के समीप होने से पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है और प्रतिबिम्बित पुरुष में बुद्धि वृत्तय की छाया पड़ने से पुरुष अविवेक के कारण उनको अपने स्वरूप में आरोप कर अपनी वृत्ति मान लेता है इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है कि "व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः=व्युत्थानकाल में जैसी जैसी बुद्धि की वृत्ति होती है उसी के समान वृत्तिवाला पुरुष होता है और सांख्यभाष्य में पञ्चशिखाचार्य ने भी इसी अर्थ को इस प्रकार स्फुट किया है कि "एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्=व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्तिरूप एक ही ज्ञान होता है।

सार यह है कि व्युत्थानकाल में बुद्धि के समान ही पुरुष का

रूप होता है।

सं० जिन वृत्तियों के निरोध का नाम योग है वह कितने प्रकार की हैं ? उत्तर :—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥५॥

पद०—वृत्तयः। पञ्चतय्यः। क्लिष्टाक्लिष्टाः।

पदा०—(वृत्तयः) निरोध करने योग्य चित्तवृत्तियां (पञ्चतय्यः) पांच प्रकार * की हैं और फिर वह (क्लिष्टाक्लिष्टाः) क्लिष्ट, अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं।

भाष्य—धर्माधर्म की वासना को उत्पन्न करनेवाली राजस तामस वृत्तियों को क्लिष्ट कहते हैं अर्थात् जिन वत्तियों के उदय होने से पुरुष रागद्वेषादि में प्रवृत्त हुआ शुभाशुभ कर्मों के करने से पुनः पुनः जन्ममरणरूप कष्ट को प्राप्त होता है उनको क्लिष्ट कहते हैं और जो वृत्तियां प्रकृत्ति पुरुष के विवेक अर्थात् भेद को विषय करती हुई गुणाधिकार ** को निवृत्त करती हैं ऐसी सात्त्विक वृत्तियों का नाम अक्लिष्ट है।

तात्पर्य यह है कि जिन वृत्तियों के उदय होने से पुरुष के भावी जन्म का आरम्भ होता है उनको क्लिष्ट और जिनके उदय होने से मनुष्य के भावी जन्म का आरम्भ नहीं होता अर्थात् जिन से पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त होजाता है उनको अक्लिष्ट कहते हैं।

इस प्रकार क्लिष्टाक्लिष्ट भेदवाली निरोध के योग्य चित्त

---

* त्यप् प्रत्यय अवयवार्थ में होता है, इसलिये "पञ्चतय्यः" इस पद का अर्थ पांच अवयववाली होना चाहिये परन्तु यहां लक्षणा से प्रकार अर्थ किया गया है।

** धर्माधर्म की उत्पत्ति द्वारा भावी जन्म के आरम्भ होने को गुणाधिकार कहते हैं।

की वृत्तियां पांच प्रकार की हैं।

यहां यह भी जानना आवश्यक है कि यद्यपि लज्जा, तृष्णा आदि भेद से चित्तवृत्तियां असंख्यात हैं सहस्रों वर्ष पर्यन्त भी उनकी गणना होनी असम्भव है तथापि वह सब निरोध के योग्य नहीं क्योंकि उनका पांच प्रकार की वृत्तियों में अन्तर्भाव होने के कारण इनके निरोध से स्वयं निरोध होजाता है, इसलिये निरोध करने योग्य केवल पांच ही वृतियां हैं।

सं०—अब पांच वृत्तियों को कहते हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

पद०—एकपद०।

पदा०—(प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः) प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा, स्मृति, यह पांच वृत्तियां हैं।

सं०—अब प्रमाणवृत्ति का लक्षण करते हुए उसका विभाग कथन करते हैं :—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

पद०—प्रत्यक्षानुमानागमाः। प्रमाणानि।

पदा०—(प्रत्यक्षानुमानागमाः) प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, यह तीन (प्रमाणानि) प्रमाण हैं।

भाष्य—**प्रमीयतेऽर्थो येन तत्प्रमाणम्**=जिससे विषय का यथार्थ ज्ञान हो उसको प्रमाणवृत्ति कहते हैं अर्थात् प्रमा=यथार्थ ज्ञान के असाधारण कारण का नाम प्रमाणवृत्ति है।

चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होकर अनधिगत=अज्ञात तथा अबाधित=सत्य अर्थ को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का जब घट पटादि बाह्य पदार्थों के साथ संयोगादि सम्बन्ध होता है तब

उनके द्वारा चित्त का भी सम्बन्ध होने से घटोऽयं=यह घट है, पटोऽयं=यह पट है, इस आकारवाली जो चित्त की वृत्ति उत्पन्न होती है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

यहां यह भी जानना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति के विषय में आचार्यों के दो मत हैं, एक यह कि बुद्धि की वृत्ति चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाकर घटपटादि अर्थ को ग्रहण करती हुई पुरुष को दिखाती है, दूसरा यह कि बाह्य विषय प्रथम चक्षु आदि इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होकर पश्चात बुद्धि में प्रतिबिम्बित होते हैं और बुद्धि में ही उत्पन्न हुई तदाकारवृत्ति सम्पूर्ण विषय पुरुष को दिखाती है। इसमें प्रथमपक्ष प्राचीनों और द्वितीय पक्ष नवीनों का है, परन्तु वैदिक सिद्धान्त में उक्त दोनों पक्ष माननीय हैं।

लिङ्गपरामर्श * द्वारा उत्पन्न होकर अनधिगत तथा अबाधित अर्थ को सामान्यरूप से विषय करनेवाली चित्तवृत्ति को अनुमान कहते हैं। अर्थात् जो वस्तु चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति से नहीं जानी गई किन्तु हेतुज्ञान के अनन्तर उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति के द्वारा सामान्यरूप से जानी जाए उसको अनुमान कहते हैं।

आप्तपुरुष प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने हुए जिस अनधिगत, अबाधित अर्थ का उपदेश जिस शब्द द्वारा करता है उस शब्द से उत्पन्न होकर उस अर्थ को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति को शब्द प्रमाण कहते हैं।

इन तीन प्रमाणों से जो पुरुष को ज्ञान होता है उसको फल-प्रमा तथा पौरुषेय बोध कहते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द

---

* साध्य का नाम लिङ्गी और साधन का नाम लिङ्ग तथा हेतु है, लिङ्ग लिंगी के अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं, जहां लिंग से लिंगी को सिद्ध किया जाता है उसको पक्ष और पक्षमें व्याप्तिविशिष्ट लिंग के ज्ञान को लिंगपरामर्श कहते हैं।

प्रमाण से पुरुष को "घटमहं जानामि=मैंने घट को जाना, इस आकारवाला जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम पौरुषेय बोध तथा फलप्रमा है। यह संक्षेप से प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लक्षण किया गया, इसका विस्तार सांख्यार्यभाष्य में भली प्रकार किया है विशेष जाननेवाले वहां से देखलें।

सं०—अब विपर्यय का लक्षण करते हैं:—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

पद०—विपर्ययः। मिथ्याज्ञानं। अतद्रूपप्रतिष्ठम्।

पदा०- (अतद्रूपप्रतिष्ठम्)जिसकी वस्तु के यथार्थरूप में स्थिति न हो ऐसे (मिथ्याज्ञान)मिथ्याज्ञान को(विपर्ययः)विपर्यय कहते हैं।

भाष्य—"**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**" इस पद में असमर्थ समास है, इस लिये यह "तद्रूपाप्रतिष्ठम्" ऐसा समझना चाहिए। जो ज्ञान वस्तु के यथार्थरूप में स्थिर नहीं अर्थात् वस्तु के सत्यरूप को विषय न करने से कालान्तर में उससे च्युत हो जाता है जैसा कि रज्जु में सर्पज्ञान, शुक्ति=सीपी में चांदी का ज्ञान, तथा एक चन्द्र में द्विचन्द्र ज्ञान है, ऐसे मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्यय है।

तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिस प्रकार का हो उसको किसी नेत्रदोष, चित्तदोष, वा अन्धकार आदि दोष के कारण उसी प्रकार से विषय न करके किसी अन्य प्रकार से विषय करनेवाली चित्त-वृत्ति को विपर्यय कहते हैं।

यहां यह भी जानना आवश्यक है कि सूत्र में "**अतद्रूपप्रति-ष्ठम्**" यह पद संशयवृत्ति के ग्रहणार्थ आया है क्योंकि वह भी वस्तु के यथार्थ रूप में अप्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर न होने के कारण मिथ्या ज्ञान है। भेद केवल इतना है कि संशय ज्ञान में दो कोटि तथा विपर्यय ज्ञान में एक कोटिका ज्ञान होता है और "**मिथ्याज्ञानं**"

यह पद विकल्पवृत्ति में विपर्ययवृत्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ आया है क्योंकि विकल्प ज्ञान भी वस्तु शून्य होने से वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता, परन्तु सर्वसाधारण को उसके बाध अर्थात् अयथार्थपन का ज्ञान न होने से वह मिथ्या ज्ञान नहीं।

यहां इतना और भी जानना आवश्यक है कि आहार्य्य और अनाहार्य्य भेद से विपर्ययवृत्ति दो प्रकार की है। अपनी इच्छा से उत्पन्न की गई वृत्तिका नाम आहार्य्य और स्वतः उत्पन्न होनेवाली वृत्ति का नाम अनाहार्य्य है जैसा कि शालिग्राम आदिकों में ईश्वर-बुद्धि आहार्य्य और शुक्ति आदिकों में रजतादि बुद्धि अनाहार्य्य है। यह दोनों प्रकार की विपर्ययवृत्ति अनर्थ का हेतु होने से निरोध करने योग्य हैं, इनमें प्रथम वृत्ति के अनन्त भेद हैं जिनको बुद्धिमान् स्वयं जान सकते हैं और दूसरी वृत्ति के अविद्या आदि पांच भेद हैं जिनका आगे साधनपाद में विस्तारपूर्वक निरूपण किया जाएगा।

सं०—अब विकल्पवृत्ति का लक्षण करते हैं:—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

पद०—शब्दज्ञानानुपाती। वस्तुशून्यः। विकल्पः।

पदा०—(शब्दज्ञानानुपाती) शब्दज्ञान के माहात्म्य से होनेवाले (वस्तुशून्यः) विषयरहित ज्ञान को (विकल्पः) विकल्प कहते हैं।

भाष्य—जो ज्ञान वस्तु नाम विषय से रहित हो अर्थात् जिस ज्ञान का विषय कुछ न हो और शब्दज्ञान से उत्पन्न होजाये उसको विकल्प कहते हैं। यहां शब्दज्ञान से तात्पर्य्य शब्द को विषय करनेवाले सामान्य ज्ञान से है, वह अक्षरों के देखने से हो अथवा शब्द के श्रवण से हो, केवल श्रावणज्ञान ही अपेक्षित नहीं।

भाव यह है कि सत्, असत् विषय के न होने पर भी शब्दज्ञान

के सामर्थ्यमात्र से उस उस विषय के आकार को धारण करनेवाली "वन्ध्याका पुत्र, आकाशके फूल" इत्यादि प्रकार की चित्तवृत्ति को विकल्प कहते हैं। यह विकल्पवृत्ति निर्विषय होने से प्रमाण नहीं और बुद्धिमानों की दृष्टि में विषय का बाध होने पर भी व्यवहार का बाध नहीं होता और संशय तथा पिपर्यय वृत्ति में व्यवहार का भी बाध हो जाता है इसलिए संशय तथा विपर्यय भी नहीं, किन्तु प्रमाण तथा संशय विपर्ययवृत्ति से भिन्न वृत्ति है।

वार्तिककार के अनुसारी विवरणकार ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि जो ज्ञान वस्तु=विषय से शून्य हो और शब्दज्ञानानु-पाती=प्रमाण ज्ञान की भांति शब्द तथा ज्ञानात्मक व्यवहार का जनक हो उसको विकल्प कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण वृत्तियां अपने अपने विषय में शब्द तथा ज्ञाना-त्मक व्यवहार की जनक हैं वैसे ही व्यवहार का जनक हो और उनकी भांति कोई विषय न रखता हो, उनका नाम विकल्प है।

सं०—अब निद्रावृत्ति का लक्षण करते हैं:—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

पद०-अभावप्रत्ययालम्बना। वृत्तिः। निद्रा।

पदा०-(अभावप्रत्ययालम्बना) जाग्रत तथा स्वप्न वृत्तियों के अभाव के कारण सत्त्वगुण तथा रजोगुण के आच्छादक तमोगुण को विषय करनेवाली (वृत्तिः) वृत्तिका नाम (निद्रा) निद्रा है।

भाष्य-जिसके आविर्भूत होनेपर अन्य सब वृत्तियां अभावको प्राप्त होजाती हैं वह अभावप्रत्यय अर्थात् तमोगुण कहलाता है, उस तमोगुण को विषय करनेवाला जो चित्त का परिणाम है उसको निद्रा कहते हैं, अथवा जाग्रत स्वप्न काल की वृत्तियों के अभाव के कारण को अभावप्रत्यय कहते हैं, यहां आलम्बन नाम विषय का

है। सूत्रार्थ यह हुआ कि जिस समय बुद्धि में तमोगुण आविर्भूत होकर सत्त्वगुण, रजोगुण तथा वाह्येन्द्रियों का आच्छादन करलेता है उस समय बाह्य अर्थों के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण उनको विषय करनेवाली सम्पूर्ण वृत्तियों के निवृत्त होजाने से केवल तमोगुण को विषय करनेवाली जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसको निद्रा कहते हैं।

सं०—अब स्मृतिवृत्ति का लक्षण करते हैं:—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

पद०—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः। स्मृतिः।

पदा०–(अनुभूतविषयासम्प्रमोषः)पूर्व अनुभव किए हुए विषय के संस्कार से उसी विषय में होनेवाले ज्ञान का नाम(स्मृतिः)स्मृति है।

भाष्य—"सम्प्रमोषः" पद का अर्थ स्तेय=चोरी है, वह स्तेय अर्थ में वर्त्तने वाले (सम्-प्र-पूर्वक) मुष् धातु से सिद्ध होता है। पूर्वकाल में अनुभव किया हुआ विषय स्मृति का स्वार्थ अर्थात् अपना विषय होता है और जो विषय पूर्व अनुभव नहीं किया वह परार्थ अर्थात् दूसरे का अर्थ है, एवं सूत्रार्थ यह हुआ कि पूर्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जितने अर्थ का अनुभव हुआ है उतने ही अर्थ को विषय करनेवाली संस्कारजन्य चित्तवृत्ति का नाम स्मृति है।

स०—अब निरोध करने योग्य पांच प्रकार की चित्तवृत्तियों का कथन करके उनके निरोध का उपाय कथन करते हैं:——

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

पद०—अभ्यासवैराग्यभ्यां। तन्निरोधः।

पदा० (अभ्यासवैराग्याभ्यां) अभ्यास और वैराग्य से

(तन्निरोधः) उन वृत्तियों का निरोध होता है।

भाष्य—अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे निरूपण करेंगे, इन दोनों के अनुष्ठान से चित्त की सर्ववृत्तियों का निरोध होजाता है। इनमें वैराग्य चित्तवृत्ति के निरोध का और अभ्यास निरोध की स्थिरता का उपाय है।

तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोध करने में दोनों का समुच्चय=मिलाप है विकल्प नहीं अर्थात् यह दोनों मिलकर निरोध का सम्पादन कर सकते हैं पृथक् पृथक् नहीं, यहां पर अनुष्ठान क्रम की अपेक्षा से सूत्र का 'वैराग्याभ्यासाभ्यां तन्निरोधः" ऐसा पाठ होना चाहिये क्योंकि वैराग्य के अनन्तर ही अभ्यास होसकता है प्रथम नहीं।

सं०—अब अभ्यास का लक्षण करते हैं:—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

पद०–तत्र। स्थितौ। यत्नः। अभ्यासः।

पदा०–(तत्र) उन दोनों के मध्य में जो (स्थितौ) चित्त की स्थिति के लिये (यत्नः) यत्न किया जाता है उसको (अभ्यासः) अभ्यास कहते हैं।

भाष्य-अपरवैराग्य के अनुष्ठान से राजस, तामस वृत्तियों के निरोध होने पर जो चित्त में एकाग्रता अर्थात् एकमात्र सात्त्विक वृत्तियों का प्रवाह उदय होता है उसको स्थिति कहते हैं,उस स्थिति के लिये इस वहिर्मुख चित्त का "मैं सर्वथा निरोध करूंगा" इस प्रकार मानस उत्साह द्वारा चित्त को वाह्य विषयों से रोककर यम नियमादि साधनों के अनुष्ठान में लगाने का नाम अभ्यास है।

सं०—अब उक्त अभ्यास की दृढ़ता का उपाय कथन करते हैं:—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥१४॥

पद०–सः । तु । दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः । दृढ़भूमिः ।

पदा०–(दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः) दीर्घकाल, निरन्तर तथा ब्रह्मचर्य्य आदि से अनुष्ठान किया हुआ (सः, तु) अभ्यास (दृढ़भूमिः) दृढ़ होता है ।

भाष्य—सूत्र में "दीर्घकाल" से तात्पर्य्य मरण पर्य्यन्त का है और "नैरन्तर्य" पद का अर्थ सुषुप्ति पर्य्यन्त भी त्रुटि का न होना और "सत्कार" पद का अर्थ ब्रह्मचर्य्य श्रद्धा आदि हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि जब पुरुष दीर्घकाल पर्य्यन्त निरन्तर ब्रह्मचर्य्य आदि का अनुष्ठान करता है तब अभ्यास दृढ़ हो जाता है फिर व्युथान के संस्कारों से चलायमान नहीं होता अर्थात् चित्त स्थिर हो जाता है, अतएव अभ्यास की दृढ़ता के लिए उसका निरन्तर सेवन करना उचित है ।

सं०–पर और अपर भेद से वैराग्य दो प्रकार का है इनमें से प्रथम अपर वैराग्य का लक्षण करते हैं:—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा-वैराग्यम् ॥१५॥

पद०—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य । वशीकारसंज्ञावैराग्यम् ।

पदा०–(दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य) इस लोक तथा परलोक के विषयों की तृष्णा से रहित पुरुष के चित्त की स्थिति को (वशीकारसंज्ञावैराग्यम्) वशीकार नामक अपर वैराग्य कहते हैं ।

भाष्य– स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य्य आदि चेतन, अचेतन, इस लोक में होनेवाले विषयों को "दृष्टविषय" और परलोक से लेकर प्रकृतिलय पर्य्यन्त विषयों को "आनुश्रविक" विषय कहते हैं, गुरुकृत उच्चारण

के अनन्तर सुने जाने से वेद का नाम अनुश्रव है और वेद से जो विषय जाने जायें उनका नाम आनुश्रविक है।

वेद में परलोक तथा प्रकृतिलय आदि विषयों का वर्णन इस प्रकार आया है:-

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥
ऋ० १०।८८।१५

अर्थ-कर्मी तथा विद्वानों और साधारण मनुष्यों के लोक परलोक में जाने के लिए जन्म मरण रूपी दो मार्ग हैं, इन्हीं दो मार्गों से सम्पूर्ण जीव इस लोक से परलोक में और परलोक से इस लोक में जाते और आते हैं। इन दो मार्गों की प्राप्ति का कारण माता और पिता हैं। यहां लोक से तात्पर्य्य इस जन्म का और परलोक से जन्मान्तर का है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳩं रताः ॥ यजु० ४०।९

अर्थ-जो पुरुष असम्भूति अर्थात् प्रकृति को ईश्वर मानकर उपासना करते हैं वह अन्धतम अर्थात् गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो सम्भूति अर्थात् प्रकृति के कार्य्यों की ईश्वरभाव से उपासना करते हैं वे और भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं अर्थात्:-

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयᳩं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ यजु० ४०।११

अर्थ-प्रकृति की ईश्वरभाव से उपासना करनेवाले अमृत=चिरकाल तक अमरणरूप प्रकृतिलयता को प्राप्त होते हैं अर्थात्

चिरकाल तक प्रकृति में लीन होकर रहते हैं, प्रकृति में लीन होने का नाम ही अन्धतम है, और प्राकृत पदार्थों की ईश्वरभाव से उपासना करनेवाले कुछ काल तक मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते अर्थात् स्थूलशरीर से रहित होकर उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों में लीन हो जाते हैं, प्राकृतिक पदार्थों में कुछ काल तक लीन हो जाने का नाम ही अत्यन्त अन्धतम अवस्था है प्रकृति में लीन पुरुषों का नाम प्रकृतिलय और प्राकृत पदार्थों में लीन पुरुषों का नाम विदेह है, इनका वर्णन १९ वें सूत्र में विस्तार पूर्वक करेंगे।

इन दोनों प्रकार के विषयों में दुःखरूपता का अनुसंधान करने से जिस पुरुष की इच्छा निवृत्त होगई है वही योग का अधिकारी है, उस योग के अधिकारी की जो लोक तथा परलोक के विषयों में हेय उपादेय भाव से रहित चित्त स्थिति अर्थात् उपेक्षा बुद्धि है उसी का नाम अपरवैराग्य है।

इस वैराग्य के यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार यह चार भेद हैं, इन सबका यथाक्रम पृथक् पृथक् लक्षण करना उचित था परन्तु प्रथम के तीन वैराग्यों का आचार्य्य ने इसलिए पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं किया कि उनकी प्राप्ति के बिना चौथे की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् तीनों की सिद्धि के अनन्तर ही वशीकार वैराग्य की प्राप्ति होती है। इन चारों वैराग्यों के लक्षण इस प्रकार हैं:—

चित्त में जो राग द्वेष आदि दोषरूप मल हैं उन्हीं के कारण इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति होती है "मेरे इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न हो" ऐसा विचारकर मैत्री आदि भावना के अनुष्ठान को **"यतमानवैराग्य"** कहते हैं।

यतमान के अनन्तर ऐसा विचार करना कि मेरे चित्त के कई दोष निवृत्त होगए हैं और कई निवृत्त हो रहे हैं अथवा इसी प्रकार

शेष भी निवृत्त हो जायेंगे, इस प्रकार निवृत्त हुए दोषों के निर्धारण को "व्यतिरेकवैराग्य" कहते हैं।

जब चित्त के मल निवृत्त हो जायें तब विषयों में प्रवृत्ति के लिए सर्व इन्द्रिय असमर्थ हो जाते हैं, उन दोषों का जो केवल इच्छारूप से रहना है इसी को "एकेन्द्रियवैराग्य" कहते हैं।

दिव्य, अदिव्य अर्थात् उत्तम, अधम विषयों की प्राप्ति होने पर भोग इच्छा के त्याग को "वशीकारवैराग्य" कहते हैं।

इन चार प्रकार के अपरवैराग्य का भले प्रकार अनुष्ठान करने से चित्त की राजस, तामस, सर्ववृत्तियां निरुद्ध होकर सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है, इसलिए यह अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात योग का अन्तरङ्ग और असम्प्रज्ञात योग का बहिरङ्ग साधन है।

सं०—अब परवैराग्य का लक्षण करते हैं:—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

पद०—तत्। परं। पुरुषख्यातेः। गुणवैतृष्ण्यम्।

पदा०—(पुरुषख्यातेः) विवेकज्ञान से (गुणवैतृष्ण्यम्) सत्त्वादि गुणों में होनेवाली इच्छा की निवृत्ति को (तत्परं) परवैराग्य कहते हैं।

भाष्य—सम्प्रज्ञात समाधि की दृढ़ता से प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान होता है, उस विवेकज्ञान से हस्तामलक की भांति पुरुष का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य्य निखिल पदार्थों से भिन्न पुरुष प्रतीत होता है, ऐसे पुरुष के साक्षात्कार से विवेकी पुरुष को स्थूल सूक्ष्म विषयों के भोग की इच्छा सर्वथा निवृत्त हो जाती है इसी को परवैराग्य कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि का फल प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान भी प्रकृति का कार्य्य होने से दुःखरूप है उसको दुःख-

रूपं जानकर तृष्णा का त्याग करना परवैराग्य कहलाता है, इसी को ज्ञान की पराकाष्ठा होने के कारण ज्ञानप्रसाद भी कहते हैं इसी का फल मोक्ष है और यह धर्ममेघ समाधि की सीमा होने के कारण सबसे उत्कृष्ट है।

सं०—चित्तवृत्ति निरोध के साधन अभ्यास तथा वैराग्य का लक्षण कथन करके, अब अपरवैराग्य से जिस पुरुष के चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध होगया है उसको प्राप्त होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हैं:—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

पद०—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्। सम्प्रज्ञातः।

पदा०—(वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्) वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता, इन चारों के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसको (सम्प्रज्ञातः) सम्प्रज्ञात कहते हैं।

भाष्य—वितर्क = विविधानां प्रकृतितत्कार्य्यभूतानां पदार्थानां तर्कणं ग्रहणं ज्ञानमिति यावदस्यास्तीति वितर्कः=परमात्मा, तद्विषयत्वात् समाधिरपि वितर्कः=सम्पूर्ण प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों को ग्रहण करनेवाले परमात्मा के सर्वज्ञातृस्वरूप को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम "वितर्क" है।

विचार="चर=भक्षणे च" इस धातु से विचार शब्द सिद्ध होता है, विशेषेण=अपरोक्षेण चरणं=सर्ववस्तूनां ग्रहणं=विचारः= परमात्मा के ज्ञानमात्र को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम "विचार" है।

आनन्द=आनन्दयतीति आनन्दः=प्राणिमात्र को आनन्दित करने वाले परमात्मा के आनन्दगुण को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का

नाम "आनन्द" है।

अस्मिता—"तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" बृहदा० १।६।१०—वह परमात्मा जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को जानता है वैसे ही अपने स्वरूप को भी जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, इस परमात्मानुभव सिद्ध ज्ञान तथा आनन्दादि अनन्त कल्याण गुण विशिष्ट परमात्मा के स्वरूप को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम "अस्मिता" है।

इन्हीं चारों वृत्तियों के समुदाय का नाम सम्प्रज्ञातसमाधि है।

यहां इतना विशेष जानना आवश्यक है कि इन चारों में प्रथम का नाम गृहीतृसमापत्ति, दूसरी का ग्रहण समापत्ति और तीसरी तथा चौथी का नाम ग्राह्य समापत्ति है। इसका वर्णन इसी पाद के ४१ वें सूत्र में विस्तार पूर्वक किया जायेगा।

और जो आधुनिक टीकाकारों ने इस चार प्रकार के सम्प्रज्ञात योग को स्थूलालम्बन में लगाया है अर्थात् जिसमें जीव चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करता है उसका नाम वितर्क, जिसमें सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रादिकों का ध्यान करता है उसका नाम विचार, जिसमें अहंकार का ध्यान करता है उसका नाम आनन्द और जिसमें अहंकार, बुद्धि वा प्रकृति का ध्यान करता है उसका नाम अस्मिता है। यह व्याख्यान सर्वथा इस दर्शन के आशय से विरुद्ध है क्योंकि इस दर्शन में ईश्वर से भिन्न जड़ पदार्थों में चित्तवृत्ति के निरोध का नाम समाधि कहीं भी नहीं, यदि जड़ पदार्थों में चित्तवृत्ति निरोध का नाम समाधि होता तो "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र में चेतनस्वरूप परमात्मा में चित्तवृत्ति का निरोध कथन न किया जाता। इससे पाया जाता है कि यह सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, दोनों प्रकार का योग परमात्मा में चित्तवृत्ति निरोध को कहता है।

ननु—यदि आधुनिक टीकाकारों के मत में वितर्कादि चार

प्रकार का योग स्थूल पदार्थों में चित्तवृत्ति निरोध का नाम है तो "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः"=चित्त के आलम्बन में स्थूल भोग का नाम वितर्क है। इत्यादि भाष्य में स्थूल आभोग क्यों माना गया ? उत्तर—इस भाष्य को न समझकर ही आधुनिक टीकाकारों ने भूल की है क्योंकि उक्त भाष्य में जो वितर्क समाधि को स्थूल आभोग कथन किया गया है वह स्थूलपदार्थों में होने के कारण नहीं किया किन्तु जिस सर्वज्ञातृत्वधर्म को मुख्य मानकर परमात्मा विषयक वितर्क समाधि होती है वह स्थूल सूक्ष्म सर्व-पदार्थों की अपेक्षा रखने से स्थूल है, इस कारण उक्त समाधि को स्थूल आभोग कथन किया है और "सर्वज्ञातृत्व" की अपेक्षा ज्ञान सूक्ष्म है इसलिए तद्विषयक विचार समापत्ति को सूक्ष्म आभोग कथन किया है, किसी जड़ पदार्थ की अपेक्षा से नहीं क्योंकि वैदिक सिद्धान्त में एक ईश्वर में ही चित्त लगाने का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। इसी अभिप्राय से कहा है कि "सर्वं एते सालम्बनाः समाधयः"=यह चार प्रकार की समाधि आलम्ब वाली है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को अवलम्ब रखकर की जाती है, इससे यह नहीं पाया जाता कि उक्त वितर्कादि चारों समाधियां जड़ पदार्थों को ध्येय मानकर की जाती हैं। यदि ऐसा होता तो "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस २३ वें सूत्र में ईश्वर को अवलम्ब रखकर समाधि का वर्णन न किया जाता और नाहीं विक्षेपों के अभाव के लिए "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" इस १३ वें सूत्र में एकमात्र परमात्मा का अवलम्बन सिद्ध किया जाता। इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट पाया जाता है कि आधुनिक टीकाकारों ने योगभाष्य के स्थूलादि शब्दों को न समझ कर ही इस चार प्रकार के सम्प्रज्ञात योग को जड़ विषयक वर्णन कर दिया है जो वैदिक सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिसमें वितर्कादि द्वारा ईश्वर के

स्वरूप का ज्ञान रहता है उसका नाम सम्प्रज्ञातयोग है।

सं०—अब सम्प्रज्ञात समाधि के अनन्तर पर वैराग्य से होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हैं:—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

पद०—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः। संस्कारशेषः। अन्यः।

पदा०—(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः) निखिलवृत्ति निरोध क कारण परवैराग्य के अभ्यास से होनेवाली (संस्कारशेषः) संस्कार-शेषरूपचित्त की स्थिति का नाम (अन्यः) असम्प्रज्ञात समाधि है।

भाष्य—जैसे भुना चना अंकुर जनने के सामर्थ्य से रहित होकर केवल आकारमात्र से शेष रह जाता है, इसी प्रकार पर वैराग्य के अभ्यास से चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है, फिर आगे अन्य वृत्ति के जनने का सामर्थ्य नहीं रहता, उस अवस्था का नाम संस्कारशेष है, और वितर्कादि सर्ववृत्तियों के अभाव का नाम विराम है, और विराम के कारण ज्ञान की पराकाष्ठारूप परवैराग्य का नाम प्रत्यय है, उस प्रत्यय के पुनः-पुनः अभ्यास से सर्ववृत्तियों का निरोध हो जाने पर जो चित्त का संस्काररूप से अवस्थान विशेष है उसको असम्प्रज्ञात कहते हैं।

भाव यह है कि जिस अवस्था में निरालम्बन हुआ चित्त अपने स्वरूप मात्र में स्थित होता है उस अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात है।

सूत्र में "अन्यः" पद से असम्प्रज्ञात समाधि का बोधन किया है और "संस्कारशेषः" पद से उसका लक्षण किया है तथा "विराम-प्रत्ययाभ्यासपूर्वः" पद से उपाय का कथन किया है। निरालम्बन होने के कारण इसी समाधि का नाम निर्बीज समाधि है, जो योगी इस समाधि को प्राप्त होते हैं उनको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं, यही

समाधि योग की पराकाष्ठा है, इसी अवस्था को लेकर सांख्य तथा योग में कहा है कि "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" सां० ५।१।११६ अर्थ – समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" योग १।३ अर्थ—सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध से चेतनस्वरूप पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ परमात्मा में स्थित होता है, इसी का फल मोक्ष है, अतएव मुमुक्षुजनों को यह समाधि उपादेय है।

सं०-अब पूर्वोक्त निरोध का भेद दिखलाते हुए यह निरूपण करते हैं कि मुमुक्षुजनों के लिए कौनसा निरोध ग्राह्य और कौनसा त्याज्य है:—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

पद०-भवप्रत्ययः। विदेहप्रकृतिलयानाम्।

पदा०-(विदेहप्रकृतिलयानाम्) विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों की वृत्तिका निरोध (भवप्रत्ययः) अज्ञानजन्य होता है।

भाष्य—संस्कारशेषरूप चित्त का निरोध भवप्रत्यय और उपाय प्रत्यय भेद से दो प्रकार का है, जो पुरुष परमात्मा के स्वरूप को न जानकर पञ्चभूत तथा इन्द्रियों में परमात्मभाव का अभिमान कर उनकी उपासना करते हैं वे शरीर छोड़ने के अनन्तर उन्हीं में लीन होते हैं और अन्त में उनका चित्त संस्काररूप से रह जाता है ऐसे पुरुषों को विदेह कहते हैं क्योंकि इनका स्थूल देह नहीं रहता और जो पुरुष प्रकृति महत्तत्त्व अहङ्कार अथवा पञ्चतन्मात्र की परमात्मभाव से उपासना करते हैं उनके चित्त की वासना इन्हीं के समान हो जाती है और वे शरीरान्त के अनन्तर इन्हीं प्रकृति आदि में लीन हो जाते हैं ऐसे पुरुषों को प्रकृतिलय कहते हैं।

इन दोनों प्रकार के पुरुषों का वर्णन यजु० ४०।९-११ मन्त्रों

में किया गया है जिनका अर्थ इसी पाद के १५ वें सूत्र में कर आए हैं, उक्त दोनों पुरुषों का जो लयावस्था में चित्तवृत्ति निरोध होता है उसको भवप्रत्यय कहते हैं, भव नाम अज्ञान का है अर्थात् प्रकृति आदि अनात्मपदार्थों में परमात्म-बुद्धि होने के कारण इस निरोध को "भवप्रत्यय" कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि अज्ञानजन्य चित्तवृत्ति के निरोध का नाम "भवप्रत्यय" है और यह प्रकृति आदि अनात्म पदार्थों में लय होने से होता है परवैराग्य से नहीं, इसलिए यह निरोध योगाभास है क्योंकि इसमें निरुद्ध हुआ चित्त मोक्ष का हेतु नहीं, अतएव यह निरोध मुमुक्षुजनों को उपादेय नहीं किन्तु सर्वथा त्याज्य है।

सं०—अब उपायप्रत्यय निरोध का लक्षण करते हैं:—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

पद०-श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः। इतरेषाम्।

पदा०—(श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा, वीर्य्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञादि उपायों से होनेवाले (इतरेषाम्) योगियों के चित्तवृत्ति निरोध का नाम उपायप्रत्यय है।

भाष्य—प्रकृति पुरुष का विवेक मोक्ष का कारण है, उस विवेक का साधन योग मुझको प्राप्त हो, इस प्रकार की इच्छा से लोक तथा परलोक के विषयों में तृष्णा रहित पुरुष की योग में होने वाली रुचि को "श्रद्धा" कहते हैं।

श्रद्धालु तथा विवेक के अर्थी पुरुष का योगसम्पादन के लिए जो उत्साह है उसको "वीर्य्य" कहते हैं।

उत्साहवाले पुरुष को वेद, अनुमान तथा आचार्योपदेश से जाने हुए योग साधनों में होनेवाले स्मरण का नाम "स्मृति" है।

योगसाधनों के अनुष्ठान से प्राप्त हुई सम्प्रज्ञात समाधि का नाम "समाधि" है।

समाहित चित्त में उत्पन्न हुए प्रकृति पुरुष के विवेक का नाम "प्रज्ञा" है।

प्रज्ञा के अनन्तर जो पुरुष को गुणवैतृष्ण्य अर्थात् उक्तप्रज्ञा में भी अलंप्रत्यय=तृप्ति होती है उसका नाम परवैराग्य है, इस प्रकार श्रद्धा आदि उपायों से जो योगियों के चित्त का निरोध होता है उसको "उपायप्रत्यय" कहते हैं इसी का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है जिसका लक्षण १८ वें सूत्र में किया गया है।

यहां श्रद्धा आदि उपायों का परस्पर कार्य्य कारणभाव है अर्थात् प्रथम श्रद्धा, श्रद्धा से वीर्य्य, वीर्य्य से स्मृति, स्मृति से समाधि, समाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से परवैराग्य तथा परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है, इसी अभिप्राय से सूत्र में श्रद्धादि उपायों का क्रम दिखलाया गया है।

सं०–अब उक्त श्रद्धा आदि साधनों वाले योगियों के मध्य में जिन को शीघ्र असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है उनका कथन करते हैं:—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

पद०–तीव्रसंवेगानाम् । आसन्नः ।

पदा०—(तीव्रसंवेगानाम्) तीव्रवैराग्यवाले योगियों को (आसन्नः) शीघ्र समाधि तथा उसके फल कैवल्य का लाभ होता है।

भाष्य– संवेग नाम वैराग्य का है, पूर्व जन्म के संस्कार तथा अदृष्ट की विलक्षणता के कारण मृदु, मध्य, अधिमात्र, भेद से श्रद्धा आदि उपाय तीन प्रकार के हैं, इनमें तीन भेद होने से इन उपायों

वाले योगियों के तीन भेद हैं अर्थात् मृदूपाय, मध्योपाय, और अधिमात्रोपाय। इन तीनों योगियों के भी मृदुसंवेग, मध्यसंवेग, अधिमात्रसंवेग, इस प्रकार एक एक के तीन तीन भेद होने से नौ भेद हैं अर्थात् श्रद्धादि उपाय तथा वैराग्य के मृदु आदि भेद से (१) मृदूपायमृदुसंवेग (२) मृदूपायमध्यसंवेग (३) मृदूपायाधिमात्रसंवेग (४) मध्योपायमृदुसंवेग (५) मध्योपायमध्यसंवेग (६) मध्योपायाधिमात्रसंवेग (७) अधिमात्रोपायमृदुसंवेग (८) अधिमात्रोपायमध्यसंवेग (९) अधिमात्रोपायाधिमात्रसंवेग, इस प्रकार योगियों के नौ भेद हैं, इनमें अन्तिम योगी को शीघ्र ही असम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके फल का लाभ होता है।

सं०—अब उक्त समाधि की प्राप्ति में और विशेषता कथन करते हैं।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

पद०—मृदुमध्याधिमात्रत्वात्। ततः। अपिः। विशेषः।

पदा०—(मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मृदु, मध्य, अधिमात्र इस प्रकार तीव्रता के पुनः तीन भेद होने से अधिमात्रतीव्रसंवेग योगियों को (ततः अपि) पूर्व की अपेक्षा (विशेषः) आसन्नतर, आसन्नतम अर्थात् अतिशीघ्र समाधि तथा उसके फल का लाभ होता है।

भाष्य—मन्दतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र, इस प्रकार तीव्रसंवेग के तीन भेद होने से जिन योगियों का संवेग अधिमात्रतीव्र और श्रद्धा आदि उपाय अधिमात्र हैं उनको पूर्व की अपेक्षा आसन्नतर तथा आसन्नतम समाधि का लाभ होता है।

तात्पर्य्य यह है कि मृदुतीव्रसंवेग अधिमात्रोपाय योगी को आसन्न, मध्यतीव्रसंवेग अधिमात्रोपाय योगी को आसन्नतर तथा

अधिमात्रतीव्रसंवेग अधिमात्रोपाय योगी को आसन्नतम समाधि का लाभ होता है ।

सं०—अब उक्त समाधि के आसन्नतम लाभ में अन्य सुगम उपाय कथन करते हैं:—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

पद०—ईश्वरप्रणिधानात् । वा ।

पदा०—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर के प्रणिधान अर्थात् भक्ति विशेष से आसन्नतम समाधि का लाभ होता है ।

भाष्य—प्रणिधान भक्ति विशेष को कहते हैं जिसका वर्णन सूत्रकार आगे करेंगे, जिनका अधिमात्रतीव्रसंवेग है और ईश्वर का प्रणिधान करते हैं ऐसे अधिमात्रतीव्रसंवेग योगियों को आसन्नतम समाधि का लाभ होता है, यहां यह भी स्मरण रहे कि प्रणिधान शब्द से द्वितीयपाद के आदि में निरूपण किए हुए प्रणिधान का ग्रहण नहीं, क्योंकि वह सम्प्रज्ञातसमाधि का साधन है असम्प्रज्ञात का नहीं ।

सं०—अब जिस ईश्वर के प्रणिधान से योगियों को आसन्नतम समाधि का लाभ होता है उसका निरूपण करते हैं :-

क्लेशकर्मविपकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१४॥

पद०—क्लेशकर्मविपाकाशयैः । अपरामृष्टः । पुरुषविशेषः । ईश्वरः ।

पदा०—(क्लेशकर्मविपाकाश्रयैः) क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे (अपरामृष्टः) रहित जो (पुरुषविशेषः) पुरुषविशेष है, उसको (ईश्वरः) ईश्वर कहते हैं ।

भाष्य—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह पांच

क्लेश हैं और शुभ अशुभ दो प्रकार के कर्म हैं, कर्मों के फल, जाति, आयु, भोग इनका नाम विपाक है इनके अनुसार चित्त में होने वाली वासनाओं को 'आशय' कहते हैं, इन सबके सम्बन्ध से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

सं०-अब पूर्वोक्त ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण कथन करते हैं:-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबिजम् ॥२५॥

पद०—तत्र। निरतिशयं। सर्वज्ञवीजम्।

पदा०-(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयं) सबसे अधिक (सर्वज्ञ-बीजम्) सर्वज्ञता का कारण ही प्रमाण है।

भाष्य—जो वस्तु सातिशय अर्थात् परिमित होती है वह आगे बढती बढती किसी अन्तिम सीमा पर पहुँचकर निरतिशय अर्थात् अपरिमित हो जाती है। तात्पर्य्य यह है कि उसकी कोई उन्नति की सीमा होती है जिसके समान कोई अन्य वस्तु नहीं होती, जैसा कि परिमाण परिमित है वह छोटे से छोटा होकर अणु में और बड़े से बड़ा होकर आकाशादि में अपरिमित हो जाता है, इसी प्रकार अस्मदादि जीवों का ज्ञान भी परिमित है, क्योंकि कोई जीव थोड़ा और कोई उससे अधिक और कोई उससे भी अधिक जानता है, यह ज्ञान जहां अपरिमित हो जाता है वह ईश्वर है, उसी को सब पुरुषों से उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम कहते हैं, यही "पुरुषविशेष" पद का अर्थ है। जिस प्रकार निरतिशय=अपरिमित ज्ञान ईश्वर में प्रमाण है इसी प्रकार अपरिमित क्रियाशक्ति भी ईश्वर मैं प्रमाण है।

सं०—ननु, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि, वायु आदि महर्षियों को ही ईश्वर क्यों न माना जाये, क्योंकि वह सर्वविद्या

के मूलभूत वेदों के प्रकाशक होने से अपरिमित ज्ञान का आश्रय हो सकते हैं, इनसे भिन्न ईश्वर मानना व्यर्थ है ? उत्तरः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

पद०—पूर्वेषाम् । अपि । गुरुः । कालेन । अनवच्छेदात् ।

पदा०—(पूर्वेषाम्) वह ईश्वर पूर्व ऋषियों का (अपि) भी (गुरुः) गुरु है, क्योंकि (कालेन, अनवच्छेदात्) उसका काल से अन्त नहीं होता।

भाष्य—वह ईश्वर अग्नि, वायु आदि महर्षियों का भी गुरु है अर्थात् उनको वेदोपदेश करनेवाला है, उसका किसी प्रकार भी काल से अन्त नहीं होता और अग्नि आदि ऋषियों का काल से अन्त हो जाता है इसलिए वह ईश्वर नहीं कहला सकते क्योंकि वह उत्पन्न होते और मरते हैं। अग्नि आदि महर्षियों द्वारा जो वेद का प्रकाशक है वही ईश्वर है।

वार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि वह ईश्वर (पूर्वेषाम्) पूर्व सर्ग में होनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिकों का भी गुरु अर्थात् पिता है और विद्या द्वारा ज्ञान का दाता है, क्योंकि (कालेनानवच्छेदात्) ब्रह्मादि का काल से अन्त होजाता है और वह अविनाशी गुरु के बिना उत्पन्न वा ज्ञानयुक्त नहीं हो सकते, अतएव जिसका काल से कदापि अन्त नहीं और जो ब्रह्मा, विष्णु, आदिकों का भी उत्पन्न करनेवाला तथा वेद विद्या के द्वारा ज्ञान का देनेवाला है वही ईश्वर है।

सं०—अब ईश्वर का नाम कथन करते हैं:—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

पद०—तस्य । वाचकः । प्रणवः ।

पदा०—(तस्य) उस ईश्वर का (वाचकः) नाम (प्रणवः) ओ३म् है ।

भाष्य–ओ३म् यह ईश्वर का मुख्य नाम है ।

सं०–अब प्रणिधान का स्वरूप कथन करते हैं:—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

पद०—तज्जपः । तदर्थभावनम् ।

पदा०–(तज्जपः) ओ३म् का जप और (तदर्थभावनम्) उसके वाच्य ईश्वर के पुनः पुनः चिन्तन करने को प्रणिधान कहते हैं ।

भाष्य—ओ३म् का जप करते हुए परम प्रेम से ईश्वर के चिन्तन का नाम "प्रणिधान" है, इसी को भक्तिविशेष तथा उपासना भी कहते हैं ।

इसके विषय में भाष्यकार इस प्रकार कथन करते हैं कि:—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थ—स्वाध्याय=ओंकार जप के अनन्तर योग अर्थात् समाधि का अभ्यास करे और समाधि के अनन्तर ओंकार का जप करे क्योंकि ओंकार के जप तथा समाधि के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश होता है ।

भाव यह है कि जब योगी वैराग्य सहित प्रणवोपासना=प्रणिधान करता है तब ईश्वर प्रसन्न होकर सङ्कल्पमात्र से ही योगी=उपासक के सङ्कल्पों को पूर्ण कर देता है क्योंकि ईश्वर सत्यसङ्कल्प और सर्वशक्तिसम्पन्न है वह प्रणिधान से प्रसन्न होकर जब कृपा करता है तब उसकी कृपा से योगी का चित्त शान्त होकर समाधि में स्थित हो जाता है ।

सं०—अब ईश्वरप्रणिधान का फल निरूपण करते हैं:—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२८॥

पद०—ततः । प्रत्यक्चेतनाधिगमः । अपि । अन्तरायाभावः । च ।

पदा०—(ततः) ईश्वरप्रणिधान से (प्रत्यक्चेतनाधिगमः)पुरुष का साक्षात्कार (च) और (अन्तरायाभावः) उसके साधन योग में होनेवाले विघ्नों की निवृत्ति (अपि) होती है ।

भाष्य—ईश्वरप्रणिधान अर्थात् प्रणवोपासना से योगी को केवल समाधि का लाभ ही नहीं होता किन्तु योग के प्रतिवन्धक सर्वविघ्नों की निवृत्ति होकर प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों से भिन्न परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार भी होता है ।

यहां क्रम इस प्रकार जानना चाहिये कि प्रथम ईश्वर प्रणिधान होता है उसके अनन्तर योग के विघ्नोंकी निवृत्ति होकर सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है और फिर प्रकृति पुरुष का विवेक उदय होता है, तत्पश्चात् वैराग्य होता है और फिर इसके अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि होती है, पश्चात् परमात्मा का प्रकाश और उसके प्रकाश के अनन्तर कैवल्य=मोक्ष का लाभ होता है ।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से योग के विघ्नों का निरूपण करते हैं:—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

पद०—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि । चित्तविक्षेपाः । ते । अन्तरायाः ।

पदा०—(व्याधिस्त्यानसंशय०) व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थित्व, यह नव चित्त को विक्षिप्त=चञ्चल करते हैं, अतएव (ते) यह (अन्तरायाः) योग में विघ्न है।

भाष्य—शरीर में वात, पित्त, कफ, यह तीन मुख्य धातु हैं, इन्हीं से शरीर की स्थिति होती है और अन्नादि के खानपान से रुधिरादि परिणाम का नाम रस है। धातु, रस और इन्द्रियों की विषमता से शरीर में होनेवाले ज्वरादि रोगों का नाम "व्याधि" है।

चित्त में इच्छा होने पर भी कर्म करने की अशक्ति का नाम "स्त्यान" है।

मैं योग को कर सकूंगा वा नहीं कर सकूंगा, इस प्रकार के ज्ञान को "संशय" कहते हैं।

यम नियमादि योग के आठ अङ्गों का परित्याग करने का नाम "प्रमाद" है।

योग साधनों के अनुष्ठानकाल में कफ आदि से शरीर के भारी होजाने तथा तमोगुण से चित्त के भारी होजाने का नाम "आलस्य" है।

विषयों में प्रीति का नाम "अविरति" है।

गुरु उपदेश से ज्ञात हुए योगसाधनों में विपरीत ज्ञान का नाम "भ्रान्तिदर्शन" है।

योगसाधनों के अनुष्ठान से वक्ष्यमाण मधुमती आदि भूमियों की अप्राप्ति को "अलब्धभूमिकत्व" कहते हैं।

उक्त भूमियों के प्राप्त होने पर चित्त के स्थिर न रहने का नाम "अनवस्थित्व" है।

यह नव चित्तविक्षेप प्रमाण आदि वृत्तियों को उत्पन्न करके चित्त को चञ्चल करते हैं, इन्हीं का नाम योगान्तराय अथवा योग-विघ्न है क्योंकि यह योग के विरोधी हैं और इन्हीं को योगमल भी कहते हैं।

यहां यह भी स्मरण रहे कि संशय और भ्रान्तिदर्शन, यह दोनों चित्त की वृत्तिरूप होने से वृत्तिनिरोधरूप योग के साक्षात् प्रति-बन्धक हैं और व्याधि आदि सात चित्तवृत्ति के सहचारी होने से प्रतिबन्धक हैं।

सं०—अब उक्त विक्षेपों के साथ साथ होनेवाले अन्य विघ्नों का निरूपण करते हैं:—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-सहभुवः ॥३१॥

पद० –दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः । विक्षेपसह-भुवः ।

पदा०—(दुःखदौर्म०) दुःखदौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास, यह (विक्षेपसहभुवः) विक्षेपों के साथ साथ होनेवाले पांच विघ्न हैं।

भाष्य—प्रतिकूल वेदनीय अर्थात् प्राणिमात्र को जिससे द्वेष है उसको "दुःख" कहते हैं और वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का है।

इच्छा की पूर्त्ति न होने से जो चित्त में क्षोभ होता है उसका नाम **"दौर्मनस्य"** है।

आसन और मन की स्थिरता को भंग करनेवाले शरीरकम्प का नाम **"अङ्गमेजयत्व"** है।

विना प्रयत्न अर्थात् स्वतः ही बाहर की वायु का नासिका द्वारा भीतर जाना "प्रश्वास" और भीतर की वायु का विना प्रयत्न बाहर आना "श्वास" कहलाता है।

यह पांच पूर्वोक्त योगविघ्नों के सहचारी विघ्न हैं उनके होने से होते और न होने से नहीं होते।

भाव यह है कि यह सब विघ्न विक्षिप्त चित्त को होते हैं समाहित चित्त को नहीं, इसीलिए यह विक्षेपों के सहचारी कथन किए जाते हैं।

सं०—अब उक्त विघ्नों की निवृत्ति का उपाय कथन करते हैं:—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

पद०—तत्प्रतिषेधार्थं। एकतत्त्वाभ्यासः।

पदा०—(तत्प्रतिषेधार्थं) उन विघ्नों की निवृत्ति के लिए (एकतत्त्वाभ्यासः) एकमात्र ईश्वर का प्रणिधान करना ही आवश्यक है।

भाष्य–यहां प्रकरण से "एकतत्त्व" पद का अर्थ ईश्वर है जिसमें "एको देवः" श्वे० ६।११ इत्यादि प्रमाण हैं, "अभ्यास" पद का अर्थ प्रणवोपासना है।

भाव यह है कि उक्त विघ्नों की निवृत्ति के लिए ईश्वर का प्रणिधान ही योगी को कर्त्तव्य है।

और जो वार्तिककार तथा मधुसूदन सरस्वती आदि "एकतत्त्व" पद का अर्थ स्थूलतत्त्व करके उसके अभ्यास को उक्त विघ्नों क निवृत्ति का उपाय कथन करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि २९ वें सूत्र में ईश्वरप्रणिधान को ही विघ्नों की निवृत्ति का उपाय कथन करके इस सूत्र से उपसंहार किया है, यदि इस सूत्र में "एकतत्त्व" पद का अर्थ कोई स्थूलतत्त्व किया जाए तो पूर्व सूत्र से इस सूत्र की

एकवाक्यता नहीं रहती, अतएव "एकतत्त्व" पद का अर्थ ईश्वर ही हो सकता है "स्थूलतत्त्व" नहीं।

सं०—अब चित्तमल की निवृत्ति के लिए भावनाओं का उपदेश करते हैं, जिनमें चित्त शुद्ध होकर ईश्वरप्रणिधान के योग्य हो जाता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

पद०—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां। सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां। भावनातः। चित्तप्रसादनम्।

पदा०—(सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां) सुखी, दुखी, धर्मी, अधर्मी पुरुषों में (मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां) मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता की (भावनातः) भावना से (चित्तप्रसादनम्) चित्त निर्मल होता है।

भाष्य—मेरे इस मित्र को भले प्रकार सुख बना रहे, इस प्रकार चित्त को मैत्री आदि के लिए तत्पर करने का नाम "भावना" है। सुखी पुरुषों में मैत्री की भावना, इस दुःखी का दुःख कैसे निवृत्त होगा इस प्रकार दुःखी पुरुषों में दया की भावना, धर्मात्मा जीवों के धर्म को देखकर "हां इसने शुभकर्म किया" इस प्रकार धार्मिक जीवों में मुदिता की भावना, अधर्मी पुरुषों के पापाचरण को देखकर पाप की उपेक्षा से उनमें उदासीनता की भावना करनी चाहिए, इससे चित्त के ईर्ष्यादि मल निवृत्त होजाते हैं अर्थात् "मैत्रीभावना" से ईर्ष्या, "करुणाभावना" से अपकार की इच्छा, "मुदिता" और "उपेक्षा भावना" से क्रोधरूप मल की निवृत्ति हो जाती है, इन ईर्ष्या आदि मलों की निवृत्ति हो जाने से निर्मल हुआ चित्त ईश्वर-

णिधान में शीघ्र हो स्थिर होता है।

तात्पर्य्य यह है कि अभ्यास से शुद्ध हुआ चित्त ईश्वरप्रणिधान के योग्य हो जाता है।

सं०—अब पूर्वोक्त मलों से रहित हुए चित्त की स्थिति का अन्य उपाय कथन करते हैं:—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

पद०—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां। वा। प्राणस्य।

पदा०—(वा) अथवा (प्राणस्य) प्राणवायु के प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्) रेचन और धारण से चित्त स्थिर होता है।

भाष्य—योगशास्त्र में कथन किए हुए प्रयत्न से नासिका द्वारा भीतर की वायु को शनैः शनैः बाहर निकालने का नाम "प्रच्छर्दन" और बाहर निकाली हुई प्राणवायु को बाहर ही इस प्रकार स्तम्भन करना कि वह शीघ्र भीतर प्रवेश न करसके इसको बाह्य "विधारण" कहते हैं। यह प्रच्छर्दन, विधारण पूरण विधारण का उपलक्षण है, नासिका द्वारा बाहर की वायु को शनैः शनैः भीतर प्रवेश करने का नाम "पूरण" और भीतर की हुई वायु को कुछ काल तक भीतर ही स्तम्भन करने का नाम अन्तः "विधारण" है, बाहर रोकने का नाम "बाह्यकुम्भक" और भीतर रोकने का नाम "अन्तः कुम्भक" प्राणायाम है। मैत्री आदि भावना से योगी का चित्त निर्मल होकर प्रच्छर्दनविधारण तथा पूरणविधारण से स्थिति को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि योगी अपने चित्त को रेचन और कुम्भक प्राणायाम से स्थिर करे।

सं०—अब चित्त स्थिति का और उपाय कथन करते हैं:—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धिनी ॥३५॥

पद०—विषयवती । वा । प्रवृत्तिः । उत्पन्ना । मनसः । स्थिति-निबन्धिनी ।

पदा०—(वा) अथवा (विषयवती) गन्धादि विषयों का (प्रवृत्तिः) साक्षात्कार करनेवाली मानसवृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न होकर (मनसः) मन की (स्थितिनिबन्धिनी) स्थिति को सम्पादन करती है ।

भाष्य—जब योगी नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग, तथा जिह्वामूल आदि स्थानों में चित्त का संयम करता है तब उसके चित्त की गन्ध, रस, रूप आदि को विषय करती हुई साक्षात्कार-रूपा वृत्ति उत्पन्न होती है इससे भी योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य्य यह है कि एक विषय में होनेवाले धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों का नाम संयम है, इसका निरूपण आगे करेंगे ।

प्रकृत यह है कि नासिका के अग्रभाग में संयम करने से जो योगी को दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है उसको "गन्धप्रवृत्ति" कहते हैं, एवं जिह्वा के अग्रभाग में संयम करने से उत्पन्न हुए दिव्यरस के साक्षात्कार का नाम "रसप्रवृत्ति" और तालु में संयम करने से उत्पन्न हुए दिव्यरूप के साक्षात्कार का नाम "रूपप्रवृत्ति" है तथा जिह्वा के मध्य में संयम करने से उत्पन्न हुए दिव्यशब्द के साक्षात्कार का नाम "शब्दप्रवृत्ति" है । यह पांचों प्रवृत्तियां अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर शास्त्र, अनुमान तथा आचार्य्य से जाने हुए अन्य विषयों में विश्वास उत्पन्न कराती हैं और प्रकृति पुरुष के विवेक तथा ईश्वर में शीघ्र ही चित्त को स्थिर करती हैं,

अतएव योगी विषयवती प्रवृत्ति से चित्त की स्थिरता का सम्पादन करे।

सं०—अब चित्तस्थिति का और उपाय कथन करते हैं:—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

पद०—विशोका। वा। ज्योतिष्मती।

पदा०—(वा) अथवा (विशोका, ज्योतिष्मती) विशोका ज्योतिष्मती नामक प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती है।

भाष्य—चित्त तथा अस्मिता में संयम द्वारा उत्पन्न हुई विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से भी योगी का चित्त स्थिर होता है। यहां रजोगुण, तमोगुण से रहित सात्विक अहंकार का नाम अस्मिता है।

इस प्रवृत्ति का **"विशोका"** नाम इसलिए है कि इसके उदय होने से योगी शोकरहित हो जाता है और **"ज्योतिष्मती"** इसलिए है कि चित्त तथा अस्मितारूप ज्योति को विषय करती है।

तात्पर्य्य यह है कि योगी विशोका ज्योतिष्मती नामक प्रवृत्ति से चित्त की स्थिरता का सम्पादन करे।

'ज्योतिष्मती' यह प्रवृत्ति का नाम है और विशोका उसका विशेषण है, यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि चित्त को विषय करनेवाली प्रवृत्ति का नाम विषयवती विशोका ज्योतिष्मती और चित्त के कारण अस्मिता को विषय करनेवाली प्रवृत्ति का नाम विशोका ज्योतिष्मती है।

सं०—अब और उपाय कहते हैं:—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

पद०—वीरतरागविषयं। वा। चित्तम्।

पदा०—(वा) अथवा (वीतरागविषयं) रागरहित पुरुषों के चित्त में संयम करने से (चित्तम्) योगी का चित्त स्थिर होता है।

भाष्य—राग, द्वेष, मोहादि से रहित सृष्टि के आदि में होने वाले वेदप्रकाशक अग्नि, वायु आदि महर्षियों को "वीतराग" कहते हैं, इन महानुभावों के चित्त में लगाया हुआ योगी का चित्त स्थिति को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि योगी अपने चित्त की स्थिति के लिए वीत-राग पुरुषों के चित्त में संयम करे।

सं०—और उपाय कथन करते हैं:—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

पद०—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं। वा।

पदा०—(वा) अथवा (स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं) स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान के विषय में संयम वाला चित्त स्थित होता है।

भाष्य—स्वप्नज्ञान के विषय माता, पिता आचार्य्य आदि और सुषुप्तिज्ञान के विषय ब्रह्मानन्द में संयम करने से योगी का चित्त स्थिति को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि योगी चित्त स्थिति के लिए स्वप्नज्ञान वा निद्राज्ञान के विषय माता, पिता, आचार्य्य तथा परमात्मा के स्वरूप-भूत सुख में संयम करे।

सं०—अब चित्त स्थिति का अन्य सुगम उपाय कहते हैं:—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

पद०—यथाभिमतध्यानात्। वा।

पदा०—(वा) अथवा (यथाभिमतध्यानात्) शास्त्रोक्त चित्त-

स्थिति साधनों के मध्य स्वाभीष्ट साधन में संयम करने से चित्त स्थिर होता है।

भाष्य—नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्द्ध ज्योतिः आदि के मध्य जहां रुचि हो वहां ही संयम करने से चित्त स्थित हो जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि शास्त्रों में जिन ध्येय पदार्थों का वर्णन किया है उनमें से किसी एक में योगी अपनी रुचि के अनुसार संयम करे, उस ध्येय में स्थित हुआ चित्त परमात्मा में भी स्थिति को प्राप्त होता है।

सं०—अब चित्त की दृढ़ स्थिति का चिन्ह निरूपण करते हैं:-

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

पद०-परमाणुपरममहत्त्वान्तः। अस्य। वशीकारः।

पदा०-(अस्य) इस योगी के चित्त का (परमाणुपरममहत्त्वान्तः) परमाणु से लेकर परममहत् वस्तु पर्य्यन्त (वशीकारः) वशीकार होता है।

भाष्य—पूर्वोक्त चित्त स्थिति के उपायोंवाले योगी का चित्त सूक्ष्म वस्तु में संयम करता हुआ परमाणु पर्य्यन्त निर्विघ्न स्थिति को प्राप्त होता है और स्थूलवस्तु में संयम करता हुआ परममहत् परिमाण वाले आकाशादिकों में निर्विघ्न स्थिति को पाता है। प्रतिबन्ध से रहित चित्तस्थिति का नाम "वशीकार" है, यह वशीकार ही चित्तस्थिति का चिन्ह है, इसी वशीकार से पूर्ण हुआ योगी का चित्त फिर किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रखता।

भाव यह है कि दृढ़ स्थिति पर्य्यन्त ही उपायों की आवश्यकता है पश्चात् नहीं।

सं०—अब स्थिर हुए चित्त में होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि का

विषय तथा उसका स्वरूप निरूपण करते हैं:-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

पद० -क्षीणवृत्तेः। अभिजातस्य। इव। मणेः। ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु। तत्स्थतदञ्जनता। समाप्तिः।

पदा०-(अभिजातस्य) अतिशुद्ध (मणेः) मणि की (इव) भांति (क्षीणवृत्तेः) राजस तामस वृत्तिरहित शुद्धसत्त्वमय चित्त का (ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु) ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य में (तत्स्थतदञ्जनता) स्थिर होकर इनके समान आकार को धारण करना (समापत्तिः) सम्प्रज्ञात समाधि है।

भाष्य—स्थूल, सूक्ष्म, सर्वपदार्थगोचर ज्ञान के आश्रय परमात्मा का नाम ग्रहीता तथा ज्ञान का नाम ग्रहण और आनन्द तथा अनन्त कल्याण गुणमय परमात्मा का नाम ग्राह्य है, इनके सम्बन्ध से तदाकारता को प्राप्त हुई योगी के चित्त की वृत्ति का नाम सम्प्रज्ञातसमाधि है।

भाव यह है कि जैसे अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक मणि रक्त-पीतादि पुष्प के सम्बन्ध से अपनी शुक्लता का परित्याग कर उनके रक्तता आदि आकार को प्राप्त होती है वैसे ही अभ्यास वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान द्वारा राजस, तामस, निखिल प्रमाणादि वृत्तिरूप मल से रहित हुआ चित्त ग्रहीतृ आदि के सम्बन्ध से अपने रूप का परित्याग कर उनके समानाकार वृत्ति वाला हो जाता है। उसी ग्रहीतृ आदि के समान आकार को प्राप्त हुए चित्त के सात्त्विक परिणामरूप वृत्ति का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जो १७वें सूत्र में आचार्य्य ने वितर्क विचार, आनन्द, अस्मिता, इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद

दिखलाकर इस सूत्र में आनन्द तथा अस्मिता को ग्राह्यसमापत्ति के अन्तर्गत मान ग्रहीतृसमापत्ति ग्रहणसमापत्ति तथा ग्राह्यसमापत्ति, यह तीन भेद दिखलाए हैं, इसका भाव यह है कि समाधि का आलम्बन परमात्मा एक है, इस कारण उसके स्वरूप में होनेवाली सम्प्रज्ञातसमाधि भी एक ही प्रकार की है केवल अवान्तर भेद से चार, तीन तथा दो भेद हैं, जैसा कि आनन्द समापत्ति तथा अस्मिता समापत्ति ग्राह्यसमापत्ति से पृथक् नहीं, वैसे ही ग्राह्यसमापत्ति भी ग्रहीतृसमापत्ति से पृथक् नहीं, क्योंकि आनन्द तथा अस्मिता की भांति परमात्मा का ग्रहीतृस्वरूप भी योगियों को ग्राह्य है और जिस प्रकार अनादिकाल से परमात्मा आनन्दस्वरूप तथा अनन्तकल्याणगुण विशिष्ट है वैसे ही स्थूल सूक्ष्म सर्वपदार्थों का ज्ञाता भी है, भेद केवल इतना है कि सर्वज्ञातृत्व सापेक्ष धर्म और शेष निरपेक्ष धर्म हैं इसी आशय से आचार्य्य ने प्रथम चार और अनन्तर तीन भेद दिखलाकर पश्चात् वितर्क, विचार अर्थात् ग्रहीतृसमापत्ति और ग्रहणसमापत्तियों को ही आवान्तर भेद से चार प्रकार का निरूपण करके **"ता एव सबीजः समाधिः"** इस ४६वें सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि का कथन किया है, इसलिए योगाधिकारियों को प्रथम सम्प्रज्ञातसमाधि के वितर्क, विचार यह दो ही भेद मन्तव्य हैं ।

सर्वज्ञातृत्वधर्म को मुख्य मानकर अनन्तकल्याणगुणमय सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में होनेवाली समाधि का नाम वितर्क =ग्रहीतृसमापत्ति और प्राकृत पदार्थों के सम्बन्ध से निर्मुक्त केवल ज्ञानमय परमात्मा के स्वरूप में होनेवाली समाधि का नाम विचार=ग्रहणसमापत्ति है । यह दोनों भी दो-दो प्रकार की हैं अर्थात् सवितर्क और निर्वितर्क भेद से वितर्क दो प्रकार की और सविचार तथा निर्विचार भेद से विचार समापत्ति दो प्रकार की है,

जिनका वर्णन यथाक्रम अग्रिम सूत्रों में विस्तार से किया है।

सं०—अब सवितर्कसमाधि का लक्षण करते हैं:—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

पद०—तत्र। शब्दार्थज्ञानविकल्पैः। सङ्कीर्णा। सवितर्का। समापत्तिः।

पदा०—(तत्र) पूर्वोक्त समाधियों के मध्य में (शब्दार्थज्ञान-विकल्पैः) शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनो के विकल्पों से (सङ्कीर्णा) मिली हुई जो (समापत्तिः) सम्प्रज्ञातसमाधि है उसको (सवितर्का) सवितर्क कहते हैं।

भाष्य—श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य ध्वनि के परिणाम को शब्द कहते हैं अर्थात् जो तालु आदि स्थानों के संयोग से प्रकट होकर श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण की जाए, ऐसी ध्वनि विशेष का नाम "शब्द" है। गोत्व आदि जाति के आश्रय गो आदि व्यक्ति का नाम "अर्थ" है। उस अर्थ को विषय करनेवाली शब्द से उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति का नाम "ज्ञान" है। इन तीनों की अभेद रूप से प्रतीति का नाम "विकल्प" है। जो समाधि इन तीन भिन्न भिन्न पदार्थों को अभिन्न रूप से विषय करती है अर्थात् जिस समाधि में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का अभेद रूप से भान होता है उसको सवि-तर्कसम धि कहते हैं।

भाव यह है कि जिस समाधि में योगी को परमात्मा के सर्व-ज्ञातृत्वस्वरूप का अपने वाचक शब्द तथा अपने ज्ञान से क्षीर नीर की भांति मिश्रित का भान होता है उसको सवितर्क समाध कहते हैं, और विकल्पित अर्थ को विषय करने के कारण योगियों की परिभाषा में इसका नाम "अपरप्रत्यक्ष" है। अभ्यास वैराग्यादि

साधनों के अनुष्ठान से यह योगी को प्रथम प्राप्त होती है अर्थात् "परमात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है" इस प्रकार के अनुसन्धान करने से जो परमात्मा के स्वरूप में योगी के चित्त की स्थिति होती है उसको सवितर्क समाधि कहते हैं।

सं०—अब निर्वितर्क समाधि का लक्षण करते हैं:—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

पद०—स्मृतिपरिशुद्धौ। स्वरूपशून्या। इव। अर्थमात्रनिर्भासा। निर्वितर्का।

पदा०—(स्मृतिपरिशुद्धौ) विकल्प के कारण वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध के विस्मरण हो जाने पर (स्वरूपशून्या इव) अपने स्वरूप से शून्य की भांति (अर्थमात्रनिर्भासा) केवल निर्विकल्प अर्थ के स्वरूप से भान होनेवाली चित्तवृत्ति को (निर्वितर्का) निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

भाष्य—शब्द तथा अर्थ के वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध को सङ्केत कहते हैं। जब वह सवितर्क समाधि के पुनः पुनः अभ्यास से विस्मरण होता है तब अर्थ के वाचक शब्द तथा शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान की उपस्थिति नहीं होती, उपस्थिति न होने के कारण उन दोनों के विकल्प से रहित केवल असङ्कीर्ण अर्थ में होनेवाली समाधि का नाम निर्वितर्क है अर्थात् जिस समाधि में अर्थाकार योगी की चित्तवृत्ति अपने आलम्बन अर्थ से पृथक् प्रतीति के योग्य नहीं रहती और शब्द तथा ज्ञान के विकल्प से शून्य केवल अर्थ ही अर्थ का भान होता है उसको निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

भाव यह है कि जिस समाधि में शब्द तथा ज्ञान के विकल्प से

रहित केवल परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुई योगी की चित्तवृत्ति परमात्मस्वरूप ही हो जाती है उसको निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

इस समाधि में विकल्प रहित यथार्थ अर्थ का भान होने से योगिजन इसको "परप्रत्यक्ष" कहते हैं।

शास्त्रकार इसी समाधि द्वारा यथार्थ रूप से सम्पूर्ण अर्थों का साक्षात्कार करके पुनः शब्द तथा ज्ञान के विकल्प द्वारा उनका उपदेश तथा प्रतिपादन करते हैं। अतएव प्रथम योगी को सवितर्क समाधि में भी विकल्पित अर्थ का ही भान होता है। यह समाधि प्रथम की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

सं०—वितर्क समाधि के दोनों भेदों का लक्षण करके अब विचारसमाधि के सविचार तथा निर्विचार भेदों का लक्षण करते हैं:—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

पद०—एतया। एव। सविचारा। निर्विचारा। च। सूक्ष्म-विषया। व्याख्याता।

पदा०—(एतया, एव) इस सवितर्क तथा निर्वितर्क समाधि के लक्षण से ही (सूक्ष्मविषया) सूक्ष्म विषय में होनेवाली (सविचारा) सविचार समाधि, तथा (निर्विचारा) निर्विचार समाधि का भी (व्याख्याता) लक्षण जानना चाहिये।

भाष्य—विषय सहित ज्ञान में देश, काल, विषय तथा विषय का कारण, इन चारों का भान होता है केवल ज्ञान में नहीं, इस लिये सविषय ज्ञान की अपेक्षा केवल ज्ञान सूक्ष्म है, इसके सम्बन्ध से तदाकारता को प्राप्तहुई चित्तवृत्ति का नाम सविचार तथा निर्विचार समाधि है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म सब विषयों से निर्मुक्त ईश्वर के ज्ञानमात्र में स्थिर हुई योगी की चित्तवृत्ति को सविचार तथा

निर्विचार समाधि कहते हैं।

जिस समाधि में ज्ञान के आश्रय परमात्मा का भान नहीं होता किन्तु ज्ञानमात्र का ही भान होता है उसको सविचार समाधि और जिसमें सम्पूर्ण जगत् की योनि अनन्तकल्याणगुणमय सच्चिदानन्द स्वरूपपरमात्मा का भान होता है उसको निर्विचार समाधि कहते हैं। यहां पर जो सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, इस प्रकार समाधियों का क्रम से वर्णन किया है उसका भाव यह है कि योगी पूर्व पूर्व समाधि का परित्याग करके उत्तरोत्तर समाधि का सम्पादन करे अर्थात् प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय का सम्पादन करके अपने आपको कृतार्थ न मान ले, क्योंकि परमात्मा में समाधि होने से ही पुरुष कृतार्थ होता है, जैसाकि "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" कठ० ३।१३ में कहा है कि बुद्धिमान् योगी इन्द्रियों को विषयों से रोककर मन में लय करे और मन को बुद्धि में तथा बुद्धि को सर्वज्ञाता परमात्मा में लय करे।

सं०—अब सविचार, निर्विचार समाधि के विषय की सीमा का निरूपण करते हैं :—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

पद०—सूक्ष्मविषयत्वं। च। अलिङ्गपर्यवसानम्।

पदा०· (च) और सूक्ष्म विषय में होनेवाली समाधि का (अलिङ्गपर्यवसानम्) ईश्वर पर्य्यन्त (सूक्ष्मविषयत्वं) सूक्ष्मविषय है।

भाष्य—सूक्ष्म विषय में होनेवाली सविचार तथा निर्विचार समाधि के विषय की अवधि परमात्मा है।

और जो आधुनिक टीकाकार अलिङ्ग पद का अर्थ प्रकृति

करके सविचार तथा निर्विचार समाधि का विषय प्रकृति पर्य्यन्त करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्" कठ० ६।८ इत्यादि उपनिषदों मे स्पष्ट पाया जाता है कि अलिङ्ग परमात्मा का नाम है और वह प्रकृति से सूक्ष्म है, उसी के ज्ञान से योगिजन अमृत को प्राप्त होते हैं। अतएव यहां "अलिङ्ग" पद का अर्थ ईश्वर है। प्रकृति नहीं।

सं०—अब सब समाधियों को मिलाकर सम्प्रज्ञातसमाधि का उपसंहार करते हैं :—

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

पद०—ताः। एव। सबीजः। समाधिः।

पदा० (ताः, एव) पूर्वोक्त चारों समाधियों को ही (सबीजः समाधिः) सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

भाष्य—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, इन चारों समाधियों का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

सं०—अब उक्त समाधियों में से निर्विचार समाधि की उत्तमता कथन करते हैं :—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

पद०—निर्विचारवैशारद्ये। अध्यात्मप्रसादः।

पदा०—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचार समाधि की निर्मलता से (अध्यात्मप्रसादः) सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

भाष्य—रजोगुण, तमोगुण की निवृत्ति द्वारा निर्मल हुए चित्त की ईश्वर पर्य्यन्त सूक्ष्म विषयों में आवरण रहित निरन्तर एकतान स्थिति का नाम "निर्विचार वैशारद्य" है। ऐसे वैशारद्य के होने से योगी को "अध्यात्मप्रसाद" की प्राप्ति होती है अर्थात् निर्विचार समाधि की निर्मलता से ईश्वर पर्य्यन्त भूत भौतिकादि सम्पूर्ण

पदार्थों का यथार्थरूप से साक्षात्कार होता है, इसी अध्यात्मप्रसाद का दूसरा नाम प्रज्ञालोक तथा प्रज्ञाप्रसाद भी है इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है कि:—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।

अर्थ—जैसे पर्वत पर स्थित हुआ पुरुष नीचे के सब पदार्थों को देखता है वैसे ही शोक से रहित योगी प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त होकर सब पदार्थों को देखता है। यही अध्यात्मप्रसाद प्रकृति पुरुष के विवेक का परम उपाय है। इसी को प्राप्त हुआ योगी अपने आत्मा का साक्षात्कार करता है अर्थात् जब योगी को निर्विचार समाधि की निर्मलता प्राप्त होती है तब उसको प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य्य महत्तत्व आदि से भिन्न अपने आत्मा का साक्षात्कार होता है जिसको सत्त्वपुरुषान्यताख्याति कहते हैं। इसको प्राप्त होकर फिर योगी जन्म मरण रूप दुःख का अनुभव नहीं करता। अतएव यह समाधि सब समाधियों से उत्कृष्ट तथा उपादेय है।

सं०—अब योगियों की परिभाषानुसार अध्यात्मप्रसाद की संज्ञा कथन करते हैं:—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।४८।।

पद०— ऋतम्भरा। तत्र। प्रज्ञा।

पदा०—(तत्र) उस निर्विचार समाधि की निर्मलता होने पर एकाग्र चित्त योगी को जो (प्रज्ञा) ज्ञान की प्राप्ति होती है योगिजन उसको (ऋतम्भरा) ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

भाष्य—ऋत नाम विकल्प से रहित यथार्थ अर्थ को विषय करने से अध्यात्मप्रसाद की अन्वर्थ संज्ञा का नाम "ऋतम्भरा" है।

सं०—अब अनुमान ज्ञान तथा शब्दज्ञान से उक्त प्रज्ञा की उत्कृष्टता निरूपण करते हैं:—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

पद०— श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां । अन्यविषया । विशेषार्थत्वात् ।

पदा०—(श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां) शब्दज्ञान तथा अनुमान ज्ञान से (अन्यविषया) समाधिप्रज्ञा का विषय भिन्न है क्योंकि वह (विशेषार्थत्वात्) यथार्थ अर्थ को विषय करती है ।

भाष्य—अनुमान से जो ज्ञान होता है उसको अनुमानप्रज्ञा और शब्द से जो ज्ञान होता है उसको शब्दप्रज्ञा कहते हैं, यह दोनों प्रज्ञा सामान्यरूप से अर्थ को विषय करती हैं अर्थात् इनसे विषय का साक्षात्कार नहीं होता किन्तु 'कोई वस्तु है' इस प्रकार परोक्ष रूप से वस्तु का भान होता है, परन्तु समाधिप्रज्ञा से स्थूल सूक्ष्म सर्वपदार्थों का हस्तामलकवत् भान होता है इसलिए, यह प्रज्ञा अनुमान आदि प्रज्ञाओं से विलक्षण है । जिस योगी को यह प्रज्ञा प्राप्त होती है वह सर्वज्ञ हो जाता है ।

सं०—अब उक्त प्रज्ञाजन्य संस्कारों को व्युत्थान संस्कारों की प्रतिबन्धकता कथन करते हैं:—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

पद०—तज्जः । संस्कारः । अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।

पदा०—(तज्जः)समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न हुआ (संस्कारः) संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) व्युत्थान संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है ।

भाष्य—प्रमाणादि वृत्तियों के जनक संस्कारों को व्युत्थान

संस्कार कहते हैं। यद्यपि वह अनादि तथा अनन्त हैं तथापि तत्त्वास्पर्शी अर्थात् सविकल्पज्ञानजन्य होने से प्रबल नहीं और प्रज्ञासंस्कार तत्त्वस्पर्शी अर्थात् निर्विकल्पज्ञानजन्य होने से प्रबल हैं, इसलिए प्रज्ञासंस्कार से उनका प्रतिबन्ध हो जाता है जिससे वह प्रमाण आदि वृत्तियों के उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं और उनके असमर्थ हो जाने से समाधिप्रज्ञा तथा उसके संस्कार चक्रवत् पुनः पुनः आवर्त्तमान हुए नितान्त दृढ़ हो जाते हैं उनके दृढ़ होने से अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभ कर्म और उनकी वासनाएं सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं, पश्चात् भोग से विरक्त हुआ चित्त पुनः संस्कार की उत्पत्ति के लिए चेष्टा नहीं करता क्योंकि समाधिप्रज्ञा ही चित्त की चेष्टा की अन्तिम सीमा है।

सं०—अब परवैराग्य द्वारा प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कारों के निरोध से होनेवाली असम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण करते हुए पाद को समाप्त करते हैं:—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

पद०—तस्य। अपि। निरोधे। सर्वनिरोधात्। निर्बीजः। समाधिः।

पदा०—(तस्य , अपि) परवैराग्य द्वारा प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कारों का (निरोधे) निरोध हो जाने पर (सर्वनिरोधात्) पुरातन नूतन सर्व संस्कारों के न रहने से (निर्बीजः समाधिः) निर्बीज समाधि होती है।

भाष्य–प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कारों की पुनः पुनः आवृत्ति से जो चित्त को तृप्ति होती है उसको परवैराग्य कहते हैं, उस परवैराग्य से प्रज्ञा तथा उसके संस्कारों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है उनके

निवृत्ति होने से कतकरज=निर्मली की भांति परवैराग्य तथा उसके संस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं, उन सबके निवृत्त होने से निरालम्बन हुआ चित्त असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है, इस समाधि में संसार के बीज अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभ कर्म और उनकी वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है इसलिए इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं यह सब समाधियों से उत्तम समाधि है जैसा कि:—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

इस व्यासभाष्य में कथन किया है कि वेदविहित श्रवण और श्रवण किए हुए अर्थ का पश्चात् युक्तियों से चिन्तनरूप मनन तथा निदिध्यासन से उत्तम योग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

ध्येय पदार्थ में विजातीय ज्ञानों से रहित जो सजातीय ज्ञानों का प्रवाह है उसको निदिध्यासन कहते हैं।

भाव यह है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन से योगी समाधि प्रज्ञा अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त होता है और इससे परवैराग्य तथा परवैराग्य से उत्तम योग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है, इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यही समाधि सम्पूर्ण कर्त्तव्यों की अवधि है, इसलिए मुमुक्षुजनों को उपादेय है। इस समाधि में निरुद्ध हुआ चित्त निरोध संस्कारों के सहित अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है, चित्त के लीन होने से स्वरूप में स्थित हुआ पुरुष अपने स्वरूप से ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूपभूत आनन्द को भोगता है, इसी

अवस्था को प्राप्त होनेवाले योगी को ब्रह्मभूत अर्थात् मुक्त कहते हैं।

इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
मु० २।२।३

अर्थ—जब विवेकी पुरुष वेदप्रकाशक, स्वयंप्रकाश, जगत्कर्त्ता परमात्मा को देखता है तब अज्ञान से रहित होकर पुण्य पाप की निवृत्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है।

दोहा—योगारम्भ प्रतिज्ञा, लक्षण साधन ज्ञान।
द्विविधयोग का मथन कर, किया पाद अवसान॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, योगार्य्यभाष्ये
प्रथमः समाधिपादः समाप्तः।

ओ३म्

अथ द्वितीयः साधनपादः प्रारभ्यते

सं० प्रथम पाद में योग तथा योग के भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, अब इस पाद में योग के साधनों का निरूपण करते हुए प्रथम क्रियायोग का उपदेश करते हैं:—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

पद०—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि । क्रियायोगः ।

पद०—(तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि) तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, इन तीनों को (क्रियायोगः) क्रियायोग कहते हैं।

भाष्य—सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वों को सहारने और हितकर तथा परिमित आहार करने का नाम "तप" है। ओंकारादि ईश्वर के पवित्र नामों का जप और वेद, उपनिषदादि शास्त्रों के अध्ययन का नाम "स्वाध्याय" है। फल की इच्छा छोड़कर केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिए वेदोक्त कर्म्मों के करने का नाम "ईश्वरप्रणिधान" है। इन तीनों का नाम योगशास्त्र में "क्रियायोग" है, क्योंकि यह तीनों स्वयं क्रियारूप तथा योग के साधन हैं, इनके करने से अस्थिर चित्तवाला भी योग को प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि योग के साधन यम नियमादिक भी क्रियात्मक होने से क्रियायोग हैं परन्तु अशुद्धचित्त मन्द अधिकारी भी शीघ्र ही सम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके उक्त तीनों साधनों के फल को प्राप्त हो

जाता है, अतएव यम नियमादिकों से उत्कृष्ट होने के कारण प्रथम इन तीनों का उपदेश किया है, इसलिए योगारूढ़ पुरुष को इस क्रियायोग का अनुष्ठान करना परमावश्यक है।

सं०—अब उक्त क्रियायोग का कथन करते हैं:—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

पद०—समाधिभावनार्थः। क्लेशतनूकरणार्थः। च।

पदा०—(समाधिभावनार्थः) उक्त क्रियायोग समाधि को सिद्ध करता (च) और (क्लेशतनूकरणार्थः) अविद्यादि क्लेशों को शिथिल करता है।

भाष्य—क्रियायोग का प्रथम फल यह है कि इसके अनुष्ठान से चित्तशुद्धि द्वारा सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है और दूसरा फल यह है कि प्रकृति पुरुष विवेक के प्रतिबन्धक जो अविद्यादि क्लेश हैं वह इसके अनुष्ठान से निर्बल होजाते हैं अर्थात् अनादिकाल से अविद्या आदि क्लेश तथा शुभाशुभ कर्मों की वासना से रजोगुण, तमोगुण की वृद्धि का हेतु जो चित्त में पापरूप मलिनता है जिससे चित्त सर्वदा विक्षिप्त रहता है वह क्रियायोग के अनुष्ठान से निवृत्त हो जाती है और उसके निवृत्त होने से शुद्ध हुआ चित्त शीघ्र ही समाधि को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि जब पुरुष निष्काम होकर उक्त क्रियायोग का सेवन करता है तब चित्त विक्षेप के कारण पूर्वोक्त पाप से निवृत्त होकर एकाग्र अर्थात् समाधिनिष्ठ हो जाता है और समाधि के प्रतिबन्धक अविद्या आदि क्लेश निर्बल हो जाते हैं अर्थात् फिर प्रतिबन्धक नहीं रहते। इससे सिद्ध हुआ कि योग की इच्छावाला विक्षिप्त पुरुष समाधि की सिद्धि और क्लेशों की निवृत्ति के लिए

क्रियायोग का अनुष्ठान करे।

सं०—जिन क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये क्रियायोग का विधान किया है अब उन क्लेशों का निरूपण करते हैं:—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

पद०—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। क्लेशाः।

पदा०—(अविद्यास्मिता०) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह (क्लेशाः) क्लेश हैं।

भाष्य—जन्ममरणादिरूप दुःख का हेतु होने से यह पांच क्लेश हैं इनका वर्णन यथाक्रम आगे करेंगे।

सं०—अब उक्त क्लेशों का मूलकारण कहते हैं:—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

पद०—अविद्या। क्षेत्रम्। उत्तरेषाम्। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

पदा०—(उत्तरेषाम्) अस्मितादि चारों क्लेशों का (अविद्या क्षेत्रम्) अविद्या मूल कारण है, और यह चारों (प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार भेद से चार प्रकार के हैं।

भाष्य—बीजरूप से चित्त में रहनेवाले तथा सहकारी कारण के बिना अपने कार्य्य की उत्पत्ति में असमर्थ क्लेशों का नाम "प्रसुप्त" है, और क्रियायोग द्वारा निर्बल हुए क्लेशों का नाम "तनु" है, सजातीय वा विजातीय क्लेश के वर्त्तमान काल में न होनेवाले अर्थात् कभी कभी अवसर पाकर प्रकट होनेवाले क्लेशों का नाम "विच्छिन्न" है और विषयों के सम्बन्ध से प्रकट होकर

सुख दुःख आदि कार्य्य को उत्पन्न करनेवाले क्लेशों का नाम "उदार" है। इनमें:—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥१॥

अर्थ—विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों के "प्रसुप्त", योगियों के "तनु" और विषयरत पुरुषों के "विच्छिन्न" तथा "उदार" होते हैं।

इस प्रकार उक्त अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशों का मूल-कारण अविद्या अर्थात् विपर्य्ययज्ञान है क्योंकि अविद्याकाल में इनकी प्रतीति और उसकी निवृत्ति होने से निवृत्ति होती है।

सं०—अब अविद्या का लक्षण करते हैं:-

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

पद०—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु। नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः। अविद्या।

पदा०—(अनित्याशुचि०) अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म-पदार्थों में नित्य, शुचि सुख तथा आत्मबुद्धि का नाम (अविद्या) अविद्या है।

भाष्य—ख्याति, बुद्धि, ज्ञान यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। अनित्य=विनाशी पदार्थों में नित्यबुद्धि, अशुचि=अपवित्र शरीरादि में पवित्र बुद्धि, दुःख=दुःखरूप विषयभोग में सुख बुद्धि तथा अनात्म=बुद्धि से लेकर स्त्री, पुत्र, मित्रादि अनात्मपदार्थों में आत्म-बुद्धि का नाम "अविद्या" है।

तात्पर्य्य यह है कि विपरीत ज्ञान का नाम अविद्या है।

यहां इतना विशेष जानना आवश्यक है कि यद्यपि शुक्ति में रजत तथा रज्जु में सर्प की प्रतीति आदि अनेक प्रकार की अविद्या है तथापि अस्मिता आदि क्लेशों और शुभाशुभ कर्मों के जाति, आयु, भोगरूप फल और उनकी वासनाओं का मूलकारण उक्त चार प्रकार की ही अविद्या है, इसलिए यहां पर इन्हीं प्रकारों का निरूपण किया गया है।

सं०—अब अविद्या के कार्य्य अस्मिता का लक्षण करते हैं:—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

पद०—दृग्दर्शनशक्त्योः। एकात्मता। इव। अस्मिता।

पदा०—(दृग्दर्शनशक्त्योः) पुरुष और बुद्धि दोनों का (एकात्मता, इव) एक पदार्थ की भांति प्रतीत होना (अस्मिता) अस्मिता कहलाती है।

भाष्य—चेतनस्वरूप होने से पुरुष को "दृक्शक्ति" और जड़ होने के कारण बुद्धि को "दर्शनशक्ति" कहते हैं। बुद्धि और पुरुष दोनों का घट, पट की भांति परस्पर अत्यन्त भेद होने पर भी अविद्याबल से एक पदार्थ सा प्रतीत होने को "अस्मिता" कहते हैं, इसी अस्मितारूप क्लेश के होने से पुरुष में अहमस्मि=मैं हूं, अहं सुखी=मैं सुखी हूं, अहं दुःखी=मैं दुःखी हूं, इस प्रकार का व्यवहार होता है, औपनिषद लोग इसी अस्मिता को हृदयग्रन्थि कहते हैं, जब ज्ञान द्वारा इस अस्मिता के निवृत्त होने से रागद्वेषादिक निवृत्त हो जाते हैं तब पुरुष को मोक्षपद की प्राप्ति होती है। जैसा कि इस उपनिषद् में कहा है कि:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। मुण्ड० २।२।८

अर्थ—प्रकृति पुरुष के विवेक द्वारा परमपुरुष परमात्मा के साक्षात्कार होने से अविद्यानिवृत्तिपूर्वक हृदयग्रन्थि=अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है और संशय मैं चेतन हूं वा अचेतन हूं, नित्य हूं वा अनित्य हूं, इस प्रकार के सम्पूर्ण संशय निवृत्त होकर जन्म मरण के हेतु सम्पूर्ण कर्म भी क्षीण हो जातें हैं।

अविद्या और अस्मिता का इतना भेद है कि अनात्मा में आत्मबुद्धि को अविद्या और सुखदुःखविशिष्ट आत्मा में आत्मबुद्धि को अस्मिता कहते हैं।

सं०—अब राग का लक्षण करते हैं:—

सुखानुशयी रागः ।।७।।

पद०—सुखानुशयी । रागः ।

पदा०-(सुखानुशयो) सुखभोग के अनन्तर चित्त में उत्पन्न हुई इच्छाविशेष का नाम (रागः) राग है।

भाष्य - सूत्र में सुख शब्द का अर्थ सुख का अनुभव है। इसी प्रकार अगले सूत्र में दुःख शब्द का अर्थ भी दुःख का अनुभव जानना चाहिये। सुख अनुभव के अनन्तर उसकी स्मृति द्वारा सुख तथा सुख के साधनों की इच्छारूप चित्तवृत्ति को "राग" कहते हैं।

सं०—अब द्वेष का लक्षण करते हैं:-

दुःखानुशयी द्वेषः ।।८।।

पद०—दुःखानुशयी । द्वेषः ।

पदा०—(दुःखानुशयी) दुःख अनुभव के अनन्तर उत्पन्न हुई क्रोधरूप चित्तवृत्ति का नाम (द्वेषः) द्वेष है।

भाष्य—दुःख अनुभव के अनन्तर उसकी स्मृति द्वारा दुःख तथा दुःख के साधनों में उत्पन्न हुई क्रोधरूप चित्तवृत्ति को द्वेष कहते हैं।

सं०—अब अभिनिवेश का लक्षण करते हैं:—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

पद०—स्वरसवाही। विदुषः। अपि। तथा। आरूढः। अभिनिवेशः।

पदा०- (विदुषः अपि) विवेकी पुरुष को भी (तथा, आरूढः) मूर्ख के समान (स्वरसवाही) वासना के बल से होनेवाले मरणभय को (अभिनिवेशः) अभिनिवेश कहते हैं।

भाष्य- अनादिकाल से पूर्व पूर्व जन्म में अनुभव किए हुए मरणजन्य दुःखों की वासनाओं का नाम "स्वरस" है और उक्त वासनासमूह के द्वारा निरन्तर होनेवाले "मा न भुवं भूयासम्= "मैं कभी न मरूं किन्तु सर्वदा जीता रहूं" इस प्रकार के मरणभय का नाम "अभिनिवेश" है। यह भय ज्ञानी तथा मूर्ख पुरुष को समान होता है।

यहां वाचस्पति मिश्र ने विद्वान् पद का अर्थ शास्त्रज्ञ और वार्तिककार ने तत्त्वज्ञ किया है।

उक्त पांच क्लेशों का नाम अन्य शास्त्रों में तम, मोह, महा-मोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया है कि:—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥

सांख्य और योगशास्त्र में अविद्या का नाम "तम" अस्मिता

का "मोह" राग का "महामोह" द्वेष का "तामिस्र" और अभिनिवेश का "अन्धतामिस्र" है। इन पांचों के ६२ भेद सांख्यार्य्यभाष्य अ० ३। ४१ में भले प्रकार निरूपण किये हैं, विशेष बोधार्थ वहां देखना आवश्यक है।

सं०—ननु, क्रियायोग से सूक्ष्म हुए क्लेश किस प्रकार निवृत्त होते हैं ? उत्तरः—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

पद०—ते। प्रतिप्रसवहेयाः। सूक्ष्माः।

पदा०—(ते) उक्तक्लेश (सूक्ष्माः) क्रियायोग द्वारा निर्बल होकर (प्रतिप्रसवहेयाः) चित्त के निवृत्त होने पर स्वयं निवृत्त हो जाते हैं।

भाष्य—असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्रकृति में चित्त के लय होने का नाम प्रतिप्रसव" है, और प्रसंख्यान तथा विवेकज्ञान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षा, इन चार भावनाओं सहित क्रियायोग के अनुष्ठान से निर्बल हुए उक्त क्लेश प्रसंख्यान-रूप अग्नि से दग्ध होकर प्रतिप्रसव=स्वआश्रयभूत चित्त के लय होने से निवृत्त हो जाते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि क्रियायोग से निर्बल तथा विवेक से दग्ध हुए उक्त क्लेशों की निवृत्ति के लिये किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं, केवल असम्प्रज्ञात समाधि से ही निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध से उक्त क्लेशों का स्वयं निरोध हो जाता है।

सं०—ननु, बीज भाव से विद्यमान स्थूल क्लेशों की निवृत्ति

का क्या उपाय है ? उत्तरः—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

पद०—ध्यानहेयाः । तद्वृत्तयः ।

पदा०—(तद्वृत्तयः) स्थूल क्लेशों की वृत्तियां (ध्यानहेयाः) सम्प्रज्ञातसमाधिजन्य प्रसंख्यान से निवृत्त होती हैं ।

भाष्य—बीजभाव से विद्यमान उदार अवस्थावाले उक्त पांच प्रकार के क्लेश क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म होकर ध्यान=सम्प्रज्ञात समाधिजन्य विवेकज्ञान से दग्धबीज होजाते हैं और दग्धबीज होने से फिर वह संसार का हेतु नहीं रहते, इसलिए उनकी निवृत्ति का उपाय सम्प्रज्ञातसमासधिजन्य प्रसंख्यान है ।

उक्त दोनों सूत्रों का भाव यह है कि विषय के सम्बन्ध से प्रकट होकर सुख दुःख आदि कार्य्यं को उत्पन्न करनेवाले उदार= स्थूल क्लेश क्रियायोग से सूक्ष्म होते हैं तत्पश्चात् प्रसंख्यानाग्नि से दग्ध हुए असम्प्रज्ञात समाधि के अनुष्ठान से निवृत्त होजाते हैं और उनके निवृत्त होजाने से समाप्ताधिकार * हुआ चित्त स्वयं अपनी प्रकृति में लय हो जाता है ।

अतएव योगी को आवश्यक है कि प्रथम क्रियायोग द्वारा उक्त क्लेशों को सूक्ष्म करे ।

सं०—ननु, उक्त क्लेशों की निवृत्ति क्यों की जाती है ? उत्तरः—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

---

* भोग और अपवर्ग का देना चित्त का अधिकार कहलाता है, उसके पूर्ण हो जाने से चित्त को समाप्ताधिकार कहते हैं ।

पद०—क्लेशमूलः । कर्माशयः । दृष्टादृष्टजन्मेदनीयः ।

पदा०—(दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) इस जन्म तथा जन्मान्तर में फल देनेवाले (कर्माशयः) शुभाशुभकर्मजन्य धर्माधर्म का (क्लेश-मूलः) अविद्यादि क्लेश मूल कारण हैं।

भाष्य—वर्त्तमान जन्म को "दृष्टजन्म" और भावी जन्म को "अदृष्टजन्म" कहते हैं, और सुख दुःख के हेतु शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्म का नाम "कर्माशय" है। जिस धर्माधर्म का फल भोगा जाय उसका नाम "दृष्टजन्मवेदनीय" और जिसका भावी जन्म में भोगा जाए उसका नाम "अदृष्टजन्मवेदनीय" है। उक्त धर्माधर्म का मूल कारण अविद्यादि पांच क्लेश हैं, अतएव वह निवृत्त करने योग्य हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त क्लेशों के विद्यमान रहने से सुख दुःख के हेतु धर्माधर्म का प्रवाह निरन्तर बना रहता है और निवृत्त होजाने से निवृत्त होजाता है, इसलिए उक्त धर्माधर्म की निवृत्ति ही क्लेशनिवृत्ति का प्रयोजन है।

यहां यह भी ध्यान रहे कि अतिप्रयत्न द्वारा मंत्र, तप, समाधि और महानुभावपुरुषों की सेवा से उत्पन्न हुए धर्म का और भीत, रोगी, अनाथ तथा विश्वासघात और महानुभाव तपस्वियों के अप-कार से उत्पन्न हुए अधर्म का फल दृष्टजन्म देवनीय ही होता है, अदृष्टजन्म देवनीय नहीं।

सं०—ननु, क्लेशों की निवृत्ति होनेपर भी तन्मूलक कर्माशय अपने फल देने से निवृत्त नहीं हो सकते क्योंकि वह अनेक जन्मों में सञ्चित होने के कारण अनन्त हैं ? उत्तरः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

पद०—सति । मूले । तद्विपाकः । जात्यायुर्भोगाः ।

पदा०—(मूले) मूल कारण के (सति) विद्यमान होने पर ही (तद्विपाकः) धर्माधर्मरूप कर्माशय का फल (जात्यायुर्भोगाः) जन्म, आयु तथा भोग होता है ।

भाष्य—जन्म का नाम "जाति", जीवनकाल का नाम "आयु" और सुख दुःख के हेतु शब्दादि विषयों की प्राप्ति का नाम "भोग" है । यह तीनों धर्माधर्म रूप कर्माशय का फल होने से "कर्मविपाक" कहलाते हैं ।

कर्माशय तब तक ही जाति आदि विपाक का आरम्भक होता है जब तक इनके मूलकारण अविद्यादि क्लेशों का नाश नहीं होता और विवेकज्ञान के द्वारा उक्त क्लेशों का नाश होजाने से नष्टमूल हुआ कर्माशय अनन्त होने पर भी उक्त फल का आरम्भक नहीं हो सकता, क्योंकि मूल के कट जाने से शाखा का फलीभूत होना असम्भव है, अतएव अपने मूलभूत अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान होने पर ही धर्माधर्म का रूप कर्माशय जाति आदि फल के जनक हो सकते हैं अन्यथा नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे तण्डुल तुषों के विद्यमान होने पर ही अङ्कुर देने में समर्थ होते हैं वैसे ही अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान होने पर ही कर्माशय उक्तफल के उत्पादन करने में समर्थ होते हैं अन्यथा नहीं, इसलिए क्लेशों के निवृत्त होने पर कदापि कर्माशय फल का आरम्भ नहीं कर सकता ।

सं०—ननु धर्माधर्म रूप कर्माशय का मूल कारण अविद्यादि क्लेश त्याज्य हों परन्तु जाति, आयु, भोग, यह तीनों क्यों त्याज्य हैं ? उत्तरः—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

पद०—ते । ह्लादपरितापफलाः । पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

पदा०—(पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) धर्म तथा अधर्म का कार्य्य होने से (ते) वह तीनों (ह्लादपरितापफलाः) सुख दुःख का हेतु हैं।

भाष्य–जाति, आयु, भोग, यह तीनों धर्माधर्म से उत्पन्न होते हैं, जिनकी धर्म से उत्पत्ति होती है उनका फल सुख और जिनकी अधर्म से उत्पत्ति होती है उनका फल दुःख है अर्थात् धर्मजन्य जाति आदिकों से सुख और अधर्मजन्य से दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए यह विवेकी पुरुषों को अविद्यादि क्लेशों की भांति सर्वथा त्याज्य हैं।

सं०–ननु, जिनसे दुःख की प्राप्ति होती है वही त्याज्य होसकते हैं अन्य नहीं ? उत्तरः—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

पद०—परिणामतापसंस्कारदुःखैः । गुणवृत्तिविरोधात् । च । दुःखं । एव । सर्वं । विवेकिनः ।

पदा०—(परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणामदुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःख से मिश्रित (च) और (गुणवृत्तिविरोधात्) परस्पर विरुद्ध तथा चल स्वभाव गुणों का परिणाम होने के कारण (सर्वं) सम्पूर्ण विषयसुख (विवेकिनः) विचारशील योगी को (दुखं एव) दुःख की हैं।

भाष्य—जब पुरुषों को विषयसुख की प्राप्ति होती है तब उसके साधन पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, गृह, आदि चेतनाचेतन विषयों में राग और उनके विरोधियों में द्वेष तथा विरोधियों के परिहार में

असमर्थ होने से मोह अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार न होना। इन तीनों के उत्पन्न होने से मन, वाणी तथा शरीर के द्वारा मानसिक, वाचिक और शारीरिक शुभाशुभ कर्मों को करता है, उनसे जन्म और जन्म से जो इसको दुःख प्राप्त होता है उसका नाम "परिणामदु.ख" है क्योंकि विषयसुख ही राग द्वेषादिकों की उत्पत्ति द्वारा भावी जन्म में दुःखरूप से परिणत हुआ है।

विषयसुख की प्राप्ति के समय में पुरुष को सुखसाधनों की अपूर्णता देखकर हृदय में जो सन्ताप उत्पन्न होता है उसका नाम "तापदुःख" है अर्थात् जब यह पुरुष विषयसुख के अनुभवकाल में सुखसाधनों को अपूर्णता और दुःखसाधनों की प्रबलता देखता है तब राग, द्वेष, लोभ, मोहादि के वशीभूत होकर नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, उस प्रवृत्तिकाल में जो पुरुष के अन्तःकारण में द्वेषजन्य प्रवृत्ति तथा शुभाशुभ कर्मों से होनेवाले भावी जन्म में दुःख की संभावना से परिताप उत्पन्न होता है उसको "तापदुःख" कहते हैं।

विषयसुख के अनुभव से संस्कार, संस्कारों से सुखस्मरण, सुखस्मरण से राग तथा राग से सुखप्राप्ति के लिए शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से पुण्यपाप और पुण्यपाप से पुनर्जन्म द्वारा सुखानुभव और फिर पुनः संस्कार, इस प्रकार होनेवाले जन्ममरण के हेतु संस्कारचक्र का नाम "संस्कारदुःख" है।

इन तीन प्रकार के दुःखों से सम्पूर्ण विषयसुख मिश्रित हैं, इनसे मिश्रित होने पर भी स्थिर नहीं किन्तु क्षणिक हैं, अर्थात् जितने पदार्थ हैं वे सब गुणों का परिणाम हैं और गुण परस्पर विरोधी तथा क्षणपरिणामी हैं अर्थात् जब किसी एक गुण की

प्रधानता से कोई कार्य्यं उत्पन्न होता है तो शीघ्र ही दूसरा गुण प्रबल होकर उससे विपरीत कार्य्य को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार गुणों का स्वभाव चल होने से उनके कार्य्यं भी सर्वदा चलायमान रहते हैं, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में सुख के हेतु जाति, आयु तथा भोग ये तीनों उपादेय हैं परन्तु विचारशील योगी को ये सब परिणामादि दुःखों से मिश्रित तथा क्षणपरिणामी होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं।

सं०—यहां तक शास्त्र के अर्थ का संक्षेप से निरूपण किया, अब हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय,इन चार भेदों से उसी का विस्तार पूर्वक निरूपण करते हुए प्रथम हेय का स्वरूप कथन करते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

पद०—हेयं। दुःखं। अनागतम्।

पदा०—(अनागतम्) भविष्यत् (दुःखं) दुःख (हेयं) त्याज्य है।

भाष्य—भूत दुःख भोग से निवृत्त हो चुका है और वर्त्तमान दुःख भोगारूढ है वह स्वयं भोग से निवृत्त होजाएगा, इसलिए विचारशील पुरुषों को भविष्यत् दुःख ही हेय है।

तात्पर्य यह है कि जो दुःख आनेवाला है उसकी निवृत्ति के लिये यदि पुरुष प्रयत्न करे तो उसके उपायों का भले प्रकार सम्पादन कर सकता है परन्तु वर्त्तमान दुःख की निवृत्ति के उपायों का सम्पादन करना कठिन है, इसलिये वर्त्तमान दुःख को सहकर भावी दुःख की निवृत्ति का उपाय सम्पादन करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है क्योंकि पुरुष को अनागत दुःख ही त्यागने योग्य हैं।

सं०—अब हेयहेतु का निरूपण करते हैं:—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

पद०—द्रष्टृदृश्ययोः । संयोगः । हेयहेतुः ।

पदा०—(द्रष्टृदृश्ययोः) द्रष्टा दृश्य का (संयोगः) संयोग (हेय-हेतुः) दुःखों का कारण है ।

भाष्य—बुद्धि के प्रतिसंवेदी अर्थात् बुद्धि के सम्बन्ध से सर्व-पदार्थों का अनुभव करनेवाले पुरुष का नाम "द्रष्टा" और जिन पदार्थों को बुद्धि ग्रहण करती तथा जो पदार्थ अहंकार के द्वारा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं उन सब प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों का नाम "दृश्य" है और भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थ के अधीन जो इन दोनों का परस्पर संयोग है उसका नाम "हेयहेतु" है ।

भाव यह है कि पुरुषार्थ प्रयुक्त जो प्रकृति पुरुष का स्व-स्वामि-भाव वा दृश्यदृष्टृभाव अथवा भोग्यभोक्तृभावरूप अनादि सम्बन्ध वह दुःखों का हेतु है ।

सं०—अब दृश्य का स्वरूप कथन करते हैं:—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापव-र्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

पद०—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं । भूतेन्द्रियात्मकं । भोगापव-र्गार्थं । दृश्यम् ।

पदा०—(भोगापवर्गार्थं) पुरुष को भोग तथा अपवर्ग देनेवाले (भूतेन्द्रियात्मकं) भूत तथा इन्द्रियरूप से परिणाम को प्राप्त (प्रकाश-क्रियास्थितिशीलं) प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति स्वभाववाले सत्त्वादि-गुणों को (दृश्यं) दृश्य कहते हैं ।

भाष्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, यह पांच स्थूल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पांच सूक्ष्म, इन दशों का नाम "भूत" और वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन, अहंकार, बुद्धि, इन तेरह का नाम "इन्द्रिय" है। प्रकाशस्वभाव का नाम सत्त्वगुण, क्रियास्वभाव का नाम रजोगुण और स्थितिस्वभाव का नाम तमोगुण है अर्थात् प्रकाशशक्ति का नाम "सत्त्व" और क्रियाशक्ति का नाम "रज" तथा प्रकाशक्रिया के प्रतिबन्धक आवरणशक्ति का नाम "तमोगुण" है। सुख दुःख के साधन विषयों की प्राप्ति का नाम "भोग" और दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम "अपवर्ग" है। ईश्वर की आज्ञानुसार पुरुष को भोग तथा अपवर्ग देने के लिए भूत और इन्द्रियरूप से परिणत सत्त्वादिगुणरूप प्रकृति का नाम "दृश्य" है।

सं०—अब उक्त दृश्य की अवस्थाविशेष का निरूपण करते हैं:—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

पद०—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि। गुणपर्वाणि।

पदा०—(विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि) विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग, यह चारों (गुणपर्वाणि) गुणों के पर्व=परिणामविशेष होने से अवस्थाविशेष हैं।

भाष्य—जिनके सम्बन्ध से पुरुष सुखी दुःखी तथा मूढ हो जाता है अर्थात् जो सुख, दुःख मोहरूप और धर्म से युक्त हैं उनको "विशेष" और उनसे विपरीत का नाम "अविशेष" है। आकाशादि पांच स्थूल भूत तथा श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्आदि पांच कर्मे-

न्द्रियां और ज्ञान, क्रिया, उभयशक्तिवाला मन, इन षोडश विकारों का नाम "विशेष" और एकलक्षणशब्दतन्मात्र, द्विलक्षणस्पर्शतन्मात्र, त्रिलक्षणरूपतन्मात्र, चतुर्लक्षणरसतन्मात्र, पंचलक्षणगन्धतन्मात्र, इस प्रकार आकाशादि महाभूतों के कारण पांच तन्मात्र और श्रोत्र आदि ग्यारह इन्द्रियों का कारण अहङ्कार इन ६ विकारों का नाम "अविशेष" है।

पूर्व पूर्व तन्मात्र उत्तर उत्तर तन्मात्र में अनुगत है इसलिए उनका एक, द्वि आदि लक्षण कथन किया है।

शब्दादिक पांच तन्मात्र तथा अहङ्कार के कारण महत्तत्त्व का नाम सम्पूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति का बीज होने से "लिङ्गमात्र" है, लिङ्गमात्र के कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति का नाम "अलिङ्ग" है, यह चारों गुणों की अवस्थाविशेष होने से "गुणपर्व" कहलाते हैं, इनमें विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र यह तीन अवस्थायें अनित्य और चौथी अलिङ्ग-अवस्था नित्य है, अर्थात् गुणों की दो अवस्थायें होती हैं एक सम और दूसरी विषम, प्रलयकाल में सम अवस्था और उत्पत्तिकाल में विषम अवस्था होती है। सम अवस्था का नाम प्रकृति और विषम अवस्था का नाम लिङ्गमात्र, अविशेष तथा विशेष है। इन दोनों में सम अथवा स्वाभाविक और भोग तथा अपवर्गरूप निमित्त से होने के कारण विषम अवस्था नैमित्तिक है, अतएव यह उसकी निवृत्ति से निवृत्त होजाती है। इस प्रकार अवान्तर भेद से गुणों की चार अवस्थायें हैं इन्हीं का नाम योगशास्त्र में "दृश्य" है।

सं०—अब द्रष्टा का स्वरूप निरूपण करते हैं:—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

पद०—द्रष्टा । दृशिमात्रः । शुद्धः । अपि । प्रत्ययानुपश्यः ।

पदा०—(शुद्धः अपि) स्वरूप से ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि निखिल धर्मों का अनाश्रय होने पर भी जो (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि के सम्बन्ध से उक्त सर्वधर्मों का आश्रय (दृशिमात्रः) ज्ञान-स्वरूप पुरुष है उसको (द्रष्टा) द्रष्टा कहते हैं ।

भाष्य—केवल ज्ञानस्वरूप को "दृशिमात्र" और जिसमें ज्ञानादिक कोई विकार उत्पन्न नहीं होते अर्थात् जो उत्पादविनाशी धर्मों का आश्रय नहीं उसको "शुद्ध" और तप्तलोह की भांति बुद्धि के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ जो बुद्धिवृत्ति द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों का अनुभवकर्ता है उसको "प्रत्ययानुपश्यः" कहते हैं अर्थात् प्रत्यय=बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों को देखती हुई बुद्धिवृत्ति के अनु=पश्चात्, पश्यः=देखनेवाले का नाम "प्रत्ययानुपश्य" है ।

तात्पर्य्य यह है कि जो प्रमाणादि बुद्धिवृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रमाता तथा कूटस्थनित्य चेतनस्वरूप पुरुष है वह "द्रष्टा" है ।

सं०—अब पूर्वोक्त दृश्य को द्रष्ट्रर्थत्व * कथन करते हैं:—

तदर्थं एव दृश्यस्यात्मा ।।२१।।

पद०—तदर्थः । एव । दृश्यस्य । आत्मा ।

पदा०—(दृश्यस्य) पूर्वोक्त दृश्य का (आत्मा) स्वरूप (तदर्थः, एव) द्रष्टा के लिए ही है ।

भाष्य—भोग और अपवर्ग यह दोनों द्रष्टा के अर्थ कहलाते हैं

---

* द्रष्टा के लिए होने का नाम द्रष्ट्रर्थत्व है ।

क्योंकि वह प्रतिक्षण इनकी अर्थना करता है और इसी कारण सांख्य तथा योग की परिभाषा में इनका नाम पुरुषार्थ है, इस पुरुषार्थ की सिद्धि ही पूर्वोक्त दृश्य का प्रयोजन है अर्थात् ईश्वर आज्ञा से जो प्रकृति ने नाना प्रकार की जगत् रचना की है वह पुरुष के भोग तथा अपवर्ग सिद्धि के लिए ही है किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं। अतएव द्रष्टा के अर्थ ही पूर्वोक्त दृश्य है।

सं०—ननु, यदि दृश्य को द्रष्टा की प्रयोजनसिद्धि के लिए ही माना जाये तो उक्त प्रयोजन सिद्ध होजाने पर उसका नाश होजाना चाहिये ? उत्तरः—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

पद०–कृतार्थं। प्रति। नष्टं। अपि। अनष्टं। तत्। अन्यसाधारणत्वात्।

पदा०—(कृतार्थं प्रति) जिस पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होगया है उसके प्रति (नष्टं अपि) नाश को प्राप्त होने पर भी, प्रकृति (अनष्टं) स्वरूप से नष्ट नहीं होती, क्योंकि (तत्) वह (अन्यसाधारणत्वात्) सब के लिए है।

भाष्य—विवेकज्ञान की उत्पत्ति द्वारा जिस पुरुष का अर्थ प्रकृति ने सिद्ध करदिया है उसको "कृतार्थ" कहते हैं और उसके प्रति संसार के आरम्भ न करने का नाम यहां "नाश" है क्योंकि अनादि होने के कारण प्रकृति का स्वरूप से नाश नहीं हो सकता, यह प्रकृति ईश्वर की आज्ञा से नाना पुरुषों की प्रयोजनसिद्धि के लिए प्रवृत्त हुई है, उनमें जिस पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होजाता है उसके प्रति नाश को प्राप्त हुई भी अन्य के प्रति नष्ट नहीं होती

क्योंकि अभी उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और सबका प्रयोजन सिद्ध न होने से सर्वथा दृश्यरूप प्रकृति का नाश मानना ठीक नहीं ।

स०—अब द्रष्टा, दृश्य के संयोग का निरूपण करते हैं:-

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

पद०—स्वस्वामिशक्त्योः । स्वरूपोपलब्धिहेतुः । संयोगः ।

पदा०—(स्वस्वामिशक्त्योः) दृश्य और द्रष्टा के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की उपलब्धि में कारण स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का नाम (संयोगः) संयोग है ।

भाष्य—अपरोक्ष प्रतीति का नाम "उपलब्धि" तथा बुद्धिरूप से परिणत दृश्य प्रकृति का नाम "स्वशक्ति" और उसके द्रष्टा पुरुष का नाम "स्वामिशक्ति" है, इन दोनों शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि में जो कारण स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है उसको "संयोग" कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि गृह आदि की भांति पुरुष के लिए होने से बुद्धिरूप प्रकृति "स्व" और उसके द्वारा भोग मोक्षरूप उपकार का भागी होने से पुरुष "स्वामी" है, इसमें सुखादि विषयों के आकार को प्राप्त हुए स्व के स्वरूप की अपरोक्ष प्रतीति का नाम "भोग" और विवेकज्ञान द्वारा स्व से भिन्न स्वामी के स्वरूप की उपलब्धि का नाम "अपवर्ग" है । भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु जो स्वस्वामिशक्तिरूप प्रकृति पुरुष का परस्पर स्वामिभाव अथवा दृश्यद्रष्टृभाव तथा भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध है उसी का नाम "संयोग" है ।

यहां इतना स्मरण रहे कि वास्तव में दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम अपवर्ग है और वह स्व से भिन्न स्वामी के स्वरूप की उपलब्धि से प्राप्त होती है, इसलिए यहां स्वामी के स्वरूप की उपलब्धि को अपवर्ग कथन किया है।

सं०-अब उक्त संयोग का हेतु कथन करते हैं:—

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

पद०—तस्य। हेतुः। अविद्या।

पदा०—(तस्य) प्रकृति पुरुष के संयोग का (हेतुः) कारण (अविद्या) अविवेक है।

भाष्य-अविद्या, विपर्ययज्ञान, भ्रान्तिज्ञान, अज्ञान, अविवेक, यह सब पर्य्याय शब्द हैं।

वासनारूप से निरन्तर वर्त्तमान अनादि विवेक ही प्रकृति पुरुष के उक्त सम्बन्ध का "हेतु" है।

यहां इतना जानना आवश्यक है कि यद्यपि यह अविद्या बुद्धि का धर्म होने के कारण स्वरूप से अनादि नहीं तथापि वासनारूप से निरन्तर वर्तमान होने के कारण बुद्धि की भांति अनादि है।

अतएव अविद्या के अनादि होने से भोग तथा अपवर्ग का हेतु प्रकृति पुरुष का संयोग भी अनादि है।

सं०—अब हान का स्वरूप कथन करते हैं:—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

पद०—तदभावात्। संयोगाभावः। हानं। तत्। दृशेः। कैवल्यम्।

पदा०—(तदभावात्) उक्त अविद्या के निवृत्त होने पर

(संयोगाभावः) द्रष्टा, दृश्य के संयोग की निवृत्ति का नाम (हानं) हान है, और (तत्) वह हान ही (दृशेः) पुरुष का (कैवल्यं) मोक्ष है।

भाष्य - यह नियम है कि "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः= निमित्त की निवृत्ति होने से नैमित्तिक की भी निवृत्ति होजाती है। संसाररूप दुःख के हेतु द्रष्टा-दृश्य संयोग का निमित्त अविद्या है, विवेकज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से जो प्रकृति पुरुष के संयोग की निवृत्ति है उसी का नाम "हान" है।

इस हान की प्राप्ति होने पर प्रकृति के सम्बन्ध से होनेवाले सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति होजाती है जैसा कि सांख्यभाष्य में पंचशिखाचार्य्य ने लिखा है कि :—"तत्संयोगविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः=प्रकृति पुरुष के संयोग की निवृत्ति से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होजाती है और प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों के सम्बन्ध से होनेवाले दुःखों से विनिर्मुक्त हुआ पुरुष स्व-स्वरूप में स्थित होकर अपने आत्मा में परमात्मा के स्वरूपभूत आनन्द का अनुभव करता है इसी का नाम "कैवल्य" है। और यह हान के प्राप्त होने से होती है इसलिए हान ही कैवल्य है।

यहां इतना विशेष जानना आवश्यक है कि यद्यपि बद्ध, मुक्त होना पुरुष का स्वाभाविक धर्म है, तथापि इसको स्वरूप से बन्ध नहीं क्योंकि यदि स्वरूप से बन्ध माना जाये तो उसकी निवृत्ति होना असम्भव है अर्थात् आत्मा स्वरूप से अनादि अनन्त है इसलिए उसके स्वरूप की निवृत्ति का असम्भव होने से बन्ध की निवृत्ति भी नहीं होसकती, अतएव दुःख का हेतु प्रकृतिसंयोग ही पुरुष का बन्ध और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। तात्पर्य यह है कि पुरुष में बन्ध

मोक्ष औपाधिक हैं स्वाभाविक नहीं।

सं०—अब उक्त हान के उपाय का कथन करते हैं:—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

पद०—विवेकख्यातिः। अविप्लवा। हानोपायः।

पदा०—(अविप्लवा) विप्लवरहित (विवेकख्यातिः) विवेकज्ञान ही (हानोपायः) हान का उपाय है।

भाष्य—वासनासहित मिथ्याज्ञान का नाम "विप्लव" है। विप्लव, उपद्रव, मलिनता, यह सब पर्य्याय शब्द हैं, जो विवेकख्याति, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की वासना के सहित उदय होती है वह विप्लववाली है और क्रियायोग के अनुष्ठान द्वारा वासना सहित मिथ्याज्ञान के सूक्ष्म होजाने पर दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारपूर्वक समाधि के अभ्यास से जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसका दूसरा नाम ऋतम्भरा है उसको अविप्लवविवेकख्याति कहते हैं, क्योंकि उस काल में क्रियायोग के प्रभाव से कार्य्यसम्पादन में असमर्थ हुआ मिथ्याज्ञान उसको मलिन नहीं कर सकता. इस प्रकार वासनासहित मिथ्याज्ञानरूप उपद्रव से रहित हुई निर्मल विवेकख्याति ही हान का उपाय है।

सं०—अब उक्त विवेकख्याति के उदय होने से जो योगी को प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका वर्णन करते हैं:—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥२७

पद०—तस्य। सप्तधा। प्रान्तभूमिः। प्रज्ञा।

पदा०—(तस्य) उक्त विवेकख्यातिवाले योगी को (सप्तधा) सात प्रकार की (प्रान्तभूमिः) सबके उत्कृष्ट अवस्थावाली (प्रज्ञा) बुद्धि प्राप्त होती है।

भाष्य—निर्मल विवेकख्याति के उत्पन्न होने से जो योगी के चित्त में प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह विषयभेद से सात प्रकार की है, जैसा कि:—परिज्ञातं न पुनरस्य किञ्चित्परिज्ञेयमस्ति = संसाररूप हेय को मैंने भले प्रकार जान लिया कि यह सम्पूर्ण दुःखमय है अब इसमें कुछ जानना शेष नहीं रहा।

क्षीणा हेयहेतवोऽविद्यादयः क्लेशा न पुनरेतेषां किञ्चिद्धातव्यमस्ति= हेय के हेतु अविद्यादि पांचों क्लेश निवृत्त होगए अब मुझको इनमें से कोई भी निवर्त्तनीय नहीं। २।

प्राप्तं हानं न पुनरन्यत्किञ्चित्प्राप्तव्यमस्ति = मुझको हान प्राप्त हुआ अब कुछ प्रापणीय नहीं। ३।

निष्पादितो हानोपायो न पुनरन्यत्किञ्चिन्निष्पादनीयमस्ति=हान का उपाय मैंने सम्पादन करलिया, अब मुझको कुछ सम्पादनीय नहीं। ४।

कृतार्थं मे बुद्धिसत्त्वं=भोग अपवर्गरूप पुरुषार्थ के सम्पादन करने से मेरी बुद्धि कृतार्थ होगई। ५।

बुद्धिरूपेण परिणता गुणा अपि गिरिशिखरच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रकृतौ प्रलयाभिमुखाः सहबुद्धिसत्त्वेनात्यान्तिकं लयं गच्छन्ति न चैषामस्ति पुनरुत्पादः प्रयोजनाभावात्=जैसे पर्वत के शिखर से गिरे हुए पाषाण चूर-चूर होकर पृथिवी में लय होजाते हैं। वैसे ही सत्त्व, रज, तम, यह तीनों गुण भी चित्तरूप आश्रय के न रहने से निराश्रय हुए चित्त के साथ ही अत्यन्त लय को प्राप्त हो जाते हैं। अब किसी प्रयोजन के न रहने से फिर इनका प्रादुर्भाव न होगा। ६।

तत्र गुणातीतः स्वरूपमात्रावस्थितश्चिदेकरसः केवली पुरुषः पर-

मात्मना सम्पत्स्यते=अब त्रिगुणातीत होजाने से स्वरूप में स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप पुरुष परमात्मा को प्राप्त होगा ।७।

इन सातों में प्रथमप्रज्ञा का फल जिज्ञासानिवृत्ति, दूसरी का जिहासानिवृत्ति, तीसरी का प्रेप्सानिवृत्ति, चौथी का चिकीर्षा-निवृत्ति, पांचवीं का शोकनिवृत्ति, छठी का भयनिवृत्ति और सातवीं का विकल्पनिवृत्ति फल है *। इस प्रकार सात फलोंवाली जो सात प्रकार की प्रज्ञा विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को प्राप्त होती है इसमें प्रथम की चार प्रज्ञाओं का नाम "कार्य्यविमुक्ति" और शेष तीनों का नाम "चित्तविमुक्ति" है, कार्य्यविमुक्तिप्रज्ञा साधन और चित्तविमुक्तिप्रज्ञा फल है। कार्य्यविमुक्ति का अर्थ कर्त्तव्यों से मुक्ति अर्थात् निष्कर्त्तव्यबुद्धि और चित्तविमुक्ति का अर्थ चित्तसत्त्व से मुक्ति अर्थात् चित्त में समाप्ताधिकारता बुद्धि है।

उक्त सात प्रकार की प्रज्ञा जिस योगी को प्राप्त होती है उस को निर्विकल्प तथा कुशल कहते हैं। कुशल, जीवनमुक्त, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०—ननु, विवेकख्याति की प्राप्ति कैसे होती है ? उत्तरः-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः ॥२८॥

पद०-योगाङ्गानुष्ठानात्। अशुद्धिक्षये। ज्ञानदीप्तिः। आवि-वेकख्यातेः।

पद०—(योगाङ्गानुष्ठानात्) योगाङ्गों के अनुष्ठान द्वारा

---

* जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा, त्याग की इच्छा का नाम जिहासा, प्राप्ति की इच्छा का नाम प्रेप्सा, करने की इच्छा का नाम चिकीर्षा और गुणों के साथ मिलकर रहने का नाम विकल्प है।

(अशुद्धिक्षये) अशुद्धि के नाश होजाने से (आविवेकख्यातेः) विवेक ख्याति पर्य्यन्त (ज्ञानदीप्तिः) निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है।

भाष्य—सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि को "योग" और उस के यम नियमादि आठ साधनों को "अङ्ग" कहते हैं, उन अङ्गों के यथाविधि सम्पादन का नाम "अनुष्ठान" और पुण्य पाप के जनक रज, तममय अविद्यादि क्लेशों का नाम 'अशुद्धि" और उसके सूक्ष्म होने का नाम "क्षय" है। योगी जैसे जैसे योग के अङ्गों का अनुष्ठान करता जाता है वैसे वैसे ही अशुद्धि क्षय होती जाती है और जैसे जैसे अशुद्धि का क्षय होता जाता है वैसे वैसे ही ज्ञान निर्मल होकर बुद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार साधनों के अनुष्ठान द्वारा बुद्धि को प्राप्त हुए निर्मलज्ञान की अन्तिम सीमा का नाम "विवेकख्याति" है। तात्पर्य यह है कि योगी को दीर्घकाल तक निरन्तर तथा सत्कारपूर्वक योगाङ्गों के अनुष्ठान करने से हान के उपाय निर्विप्लव विवेकख्याति की प्राप्ति होती है।

यहां यह भी स्मरण रहे कि योगांगों के अनुष्ठान से प्रथम अशुद्धि का क्षय होता है और पश्चात् विवेकख्याति की प्राप्ति होती है।

सं०—अब योग के अंगों की गणना करते हैं:—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ।।२९।।

पद०—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। अष्टौ। अंगानि।

पदा०—(यमनियमासन०) यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह (अष्टौ) आठ (अंगानि) योग के अंग हैं ।

भाष्य—प्रथम पाद में जो अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य्य, मैत्री आदि योग के साधन कथन किए हैं वह सब इन्हीं के अन्तर्गत हैं अर्थात् अभ्यास का समाधि में, वैराग्य का सन्तोष में, श्रद्धा, वीर्य्य आदिकों का तप, स्वाध्याय आदिकों में और मैत्री आदिकों का धारणादिकों में अन्तर्भाव है इसलिए पूर्वोत्तर विरोध नहीं ।

सं०—अब यमों का निरूपण करते हैं:—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

पद०—अहिंसा । सत्यास्तेब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः । यमाः ।

पदा०—(अहिंसासत्या०) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह. यह पांच (यमाः) यम हैं ।

भाष्य—मन, वाणी और शरीर से अनिष्टचिन्तन, कठोरभाषण तथा पीडाद्वारा प्राणिमात्र को दुःख देने का नाम "हिंसा" और सर्वप्रकार से सर्वकाल में किसी को भी दुःख न देने का नाम "अहिंसा" है ।

यथार्थभाषण अर्थात् जैसा देखा वा अनुमान किया अथवा सुना उसको वैसा ही कथन करने का नाम "सत्य" है ।

छल, कपट, ताडनादि किसी प्रकार से भी अन्य पुरुष के धन को ग्रहण न करने का नाम "अस्तेय" है ।

सर्व इन्द्रियों के निरोधपूर्वक उपस्थ इन्द्रिय के निरोध का नाम "ब्रह्मचर्य्य" है ।

दोषदृष्टिसे विषयों के परित्याग का नाम "अपरिग्रह" है ।

इन पांचों के अनुष्ठान द्वारा स्वयमेव इन्द्रियां अपने अपने विषयों से उपराम होजाती हैं इस कारण इनका नाम "यम" है।

इनमें अहिंसा मुख्य और अन्य सब उसकी निर्मलता तथा पुष्टि के लिए होने से गौण हैं। इसी बात को सांख्यभाष्य में पञ्चशिखाचार्य्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि:—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते, तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति=वह वेदवेत्ता योगी जैसे जैसे यम नियमों का अनुष्ठान करता है वैसे वैसे ही प्रमाद द्वारा होनेवाले हिंसा के कारण मिथ्या भाषणादि से निवृत्त हुआ अहिंसा को निर्मल करता है।

यह पांचों यम योग के विरोधी हिंसा, मिथ्याज्ञान, स्तेय, तथा स्त्रीसङ्ग आदि की निवृत्ति करके योग को सिद्ध करते हैं इसलिए योग के अङ्ग हैं।

सं०-अब जिस प्रकार के यम योगी को अनुष्ठेय हैं उनका कथन करते हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

पद०—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः। सार्वभौमाः। महाव्रतम्।

पदा०—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः) जाति, देश, काल तथा समय से असंकुचित और (सार्वभौमाः) जाति आदि उक्त सर्वभूमियों में व्यभिचाररहित यमों का नाम (महाव्रतम्) महाव्रत है।

भाष्य— मत्स्यातिरिक्तं न हनिष्यामि=मत्स्य जाति के अति-

रिक्त और किसी जाति का हनन न करूंगा, गुरुकुले न हनिष्यामि= गुरुकुल में किसी को न मारूंगा, पूर्णमास्यां न हनिष्यामि=पूर्णमासी के दिन न मारूंगा, केनचिदकारितो वा न हनिष्यामि=प्रेरणा तथा साधु=ठीक ठीक ऐसी अनुमति के विना न मारूंगा। इस प्रकार अहिंसा में जाति आदि के द्वारा होनेवाले सङ्कोच का नाम "अवच्छेद" और कभी कहीं किसी प्रकार से भी किसी का हनन न करूंगा, इस प्रकार अहिंसा में जाति आदि के द्वारा होनेवाले असङ्कोच का नाम "अनवच्छेद" है। जैसे अहिंसा में जाति आदि के द्वारा अवच्छेद तथा अनवच्छेद का प्रकार कथन किया है वैसे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह में भी जानना चाहिए।

जो यम उक्त जाति आदि के द्वारा संकुचित नहीं और जाति, देश, काल तथा समयरूप भूमियों में निरन्तर अनुष्ठान किए जाते हैं अर्थात् उक्त भूमियों में जिनके अनुष्ठान का कदापि व्यभिचार नहीं होता उनको "महाव्रत" कहते हैं, यही महाव्रत योगियों को योगसिद्धि के लिए अनुष्ठेय हैं।

सं०-अब नियमों का निरूपण करते हैं:-

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

पद० —शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। नियमाः।

पदा०-(शौचसन्तोष०) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, यह (नियमाः) नियम हैं।

भाष्य—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से शौच दो प्रकार का है। जल अथवा मिट्टी आदि से शरीर के और हित, मित, तथा मेध्य=

पवित्र भोजनादि से उदर के प्रक्षालन का नाम "बाह्यशौच" और मैत्री, करुणा, मुदिता आदि भावनाओं से ईर्ष्या आदि चित्तमलों के प्रक्षालन का नाम "आभ्यन्तरशौच" है। जो भोग के उपयोगी साधन विद्यमान हैं उनसे अधिक उपयोगो साधनों की इच्छा के अभाव का नाम "सन्तोष" है।

सुख, दुःख, शीत उष्णादि द्वन्दों को सहारने और हितकर तथा परिमित आहार करने का नाम "तप" है।

ओंकारादि ईश्वर के पवित्र नामों का जप और वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों के अध्ययन का नाम "स्वाध्याय" है।

फल की इच्छा छोड़कर केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिये वेदोक्त कर्मों के करने का नाम "ईश्वरप्रणिधान" है।

इन पांचों का नाम नियम है क्योंकि यह प्राणिमात्र का अवश्य कर्त्तव्य हैं, इनके अनुष्ठान से योगी को शीघ्र ही योग की प्राप्ति होती है, जैसा कि निम्नलिखित व्यासभाष्य में कहा है कि:—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
ससारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ।।

अर्थ—जो योगी शय्या किंवा आसन पर बैठा, मार्ग में चलता अथवा एकान्तसेवी हुआ वक्ष्यमाण वितर्कों से रहित यमों का अनुष्ठान करता है वह संसार के बीज अविद्या आदि क्लेशों के क्षय होजाने से शीघ्र ही योग की प्राप्ति द्वारा जीवनमुक्त तथा विदेह मुक्त होजाता है, इसलिए यह योग के अंग हैं।

सं०—अब उक्त यम नियमों के अनुष्ठान काल में प्राप्त होनेवाले विघ्नों की निवृत्ति का उपाय कथन करते हैं:—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।।३३।।

पद०—वितर्कबाधने । प्रतिपक्षभावनम् ।

पदा०—(वितर्कबाधने) वितर्कों के द्वारा उक्त यम नियमों के अनुष्ठान में बाधा प्राप्त होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

भाष्य—हिंसा, मिथ्याभाषण, स्तेय, आदि का नाम "वितर्क" और इनके द्वारा यम, नियमों के अनुष्ठान में प्रतिबन्ध का नाम "बाधन" और हिंसादि से होनेवाले दुःखादिरूप भावी फल के चिन्तन का नाम "प्रतिपक्षभावन" है।

यदि योगी को अहिंसा आदि यम नियमों के अनुष्ठानकाल में
"हनिष्याम्येनमपकारिणम्=मैं इस अपकारी पुरुष को मारूंगा।
"अनृतमपि वदिष्यामि=मिथ्याभाषण भी करूंगा।
"परधनमपि चोरयिष्यामि=पराये धन को भी चुराऊंगा।
"परदारेष्वपि व्यवायी भविष्यामि=पर स्त्री संग भी करूंगा।
"शौचमपि त्यक्ष्यामि=और शौच भी त्याग दूंगा।

इस प्रकार हिंसा आदि वितर्कों की उपस्थिति हो तो उनकी निवृत्ति के लिए "घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया परित्यज्य दुःखादिफलकान् हिंसादिवितर्कान् शरणमुपगताः खलु सर्वभूताभयप्रदानेन सुखज्ञानानन्तफलाः अहिंसादयो यमनियमाः, सोऽहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानेवाददानो नूनं तुल्यः श्ववृत्तेन=अहो अनादिकाल से दुःखमय संसार अग्नि से तप्त हुए मैंने किसी पुण्यविशेष के प्रभाव से सर्वप्राणियों को अभयदानार्थ दुःखों के मूलकारण हिंसा आदि वितर्कों का त्याग करके सुख तथा ज्ञान फलवाले अहिंसादि यम नियमों का आश्रयण किया है। यदि मैं त्याग किए हुए वितर्कों का पुनः ग्रहण करूंगा

तो निश्चय यह मेरा व्यवहार कुत्ते के समान होगा, क्योंकि त्याग किए हुए का पुनः ग्रहण करना यह कुत्ते का ही स्वभाव है मनुष्य का नहीं, अतएव मुझको दुःखमय संसाराग्नि के सन्ताप से बचने के लिए हिंसा आदि वितर्कों का कदापि ग्रहण न करना चाहिये, इस प्रकार प्रतिपक्ष का चिन्तन करे। प्रतिपक्षचिन्तन करने से पुनः योगी के चित्त में हिंसा आदि वितर्क कदापि उपस्थित नहीं होते और निर्विघ्नता से अनुष्ठित हुए यम नियम शीघ्र ही योग को सिद्ध करते हैं।

सं०—अब वितर्कों के स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म तथा फल का निरूपण करते हुए प्रतिपक्षभावना का स्वरूप कथन करते हैं:—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

पद०—वितर्काः। हिंसादयः। कृतकारितानुमोदिताः। लोभक्रोधमोहपूर्वकाः। मृदुमध्याधिमात्राः। दुःखाज्ञानानन्तफलाः। इति। प्रतिपक्षभावनम्।

पदा०—(लोभक्रोधमोहपूर्वकाः) लोभ, क्रोध तथा मोह से होनेवाले (कृतकारितानुमोदिताः) कृत, कारित तथा अनुमोदित भेद से तीन प्रकार के (मृदुमध्याधिमात्राः) मृदु, मध्य, अधिमात्र धर्मवाले (हिंसादयः) हिंसा, मिथ्याभाषण, स्तेय आदि का नाम (वितर्काः) वितर्क और यह सब (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) असीम दुःख तथा अज्ञान के देनेवाले हैं, इस विचार का नाम (प्रतिपक्षभावनं) प्रतिपक्षभावन है।

भाष्य—हिंसा, मिथ्याभाषण, स्तेय आदि का नाम "वितर्क"

है और यह हिंसा आदि कृत, कारित तथा अनुमोदित भेद से तीन प्रकार के हैं। जो स्वयं किए जायं वह "कृत" जो अन्य से कराए जायं वह "कारित" और जो साधु साधु ठीक ठीक, इस प्रकार की अनुमति से किये जायं उनको "अनुमोदित" कहते हैं। यह तीनों प्रकार के हिंसादिकर्म लोभ मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होते हैं।

मांस चर्मादि की तृष्णा का नाम "लोभ" इसने मेरा अपकार किया मैं भी इसका अपकार करूं, इस प्रकार अपकार करने की इच्छा से उत्पन्न हुई कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक को नाश करनेवाली द्वेषात्मक तामस चित्तवृत्ति का नाम "क्रोध" और यज्ञादि में पशु आदि के मारने से धर्म होता है, ऐसे मिथ्याज्ञान का नाम "मोह" है।

यह लोभमोहादिक तीनों कारण भी मृदु, मध्य, अधिमात्र इस भेद से एक एक तीन तीन प्रकार का है और मृदु, मध्यादि भेद भी मृदु, मध्य, अधिमात्र, इस भेद से एक एक तीन तीन प्रकार का है, यह सब मिलकर २७ होते हैं, इस प्रकार लोभ आदि कारणों के २७ भेद होने से हिंसादि वितर्कों के ८१ भेद हैं अर्थात् कृत, कारित, अनुमोदित भेद से तीन, और फिर लोभ, मोह, क्रोधजन्य होने के कारण एक एक के तीन तीन भेद होने से ९, फिर मृदु, मध्य, अधिमात्र, इस प्रकार लोभादि के तीन तीन भेद होने से २७, और मृदु आदि तीनों के भी मृदुमृदु, मध्यमृदु, अधिमात्रमृदु, इस प्रकार तीन तीन भेद होने से हिंसा आदि के ८१ भेद हैं।

जो पुरुष इनको करता है, वह अनन्तकाल तक दुःखमय संसार तथा अन्धतम को प्राप्त होता है और किसी प्रकार भी दुःखों से नहीं छूट सकता, जैसा कि वेदादि शास्त्रों में कहा है कि:—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। यजु० ४०।२

अर्थ–वह पुरुष अनन्तकाल तक अन्धतम तथा दुःखमय लोकों को प्राप्त होते हैं जो हिंसा करते हैं।

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । प्रश्न० ६।१

अर्थ–वह पुरुष वंश सहित शुष्क होजाता है जो मिथ्याभाषण करता है।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैः । छा० ५।१०।९

अर्थ—धन का चुरानेवाला, मदिरा का पीनेवाला, गुरु की स्त्री से गमन करनेवाला, वेदवेत्ता ऋषि को मारनेवाला और इनका संगी, यह पांचों नीचगति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार के विचार का नाम "प्रतिपक्षभावन" है।

तात्पर्य्य यह है कि हिंसा आदि वितर्क कृत, कारित, अनुमोदित तथा मृदु, मध्य, अधिमात्र, भेदभिन्न लोभादि से जन्य होने के कारण ८१ प्रकार के हैं। यह सब मेरे अनिष्ट के करनेवाले हैं इनका फल अनन्त दुःख तथा अनन्त अज्ञान है, इसलिए मुझ दुःखभीरु यम नियमों के अनुष्ठाता योगी को इनका कदापि सेवन नहीं करना चाहिए, इस प्रकार चिन्तन को प्रतिपक्षभावन कहते हैं, इसके करने से योगी को उक्त हिंसा आदि वितर्कों में द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष के उत्पन्न होने से उनके सम्पादन करने की इच्छा निवृत्त होजाती है और यम नियमों के अनुष्ठान द्वारा योगी का चित्त निर्मल होकर सिद्धि को प्राप्त होता है जिसका फल कैवल्य है। इसलिए यम नियमों के अनुष्ठानकाल में हिंसा आदि वितर्कों के

उपस्थित होने पर योगी को प्रतिपक्षभावन करना आवश्यक है।

यहां इतना स्मरण रहे कि सूत्र में "हिंसादयः" पद से वितर्कों का स्वरूप "कृतकारितानुमोदिताः" पद से प्रकार तथा "लोभक्रोध-मोहपूर्वकाः" पद से कारण, "मृदुमध्याधिमात्राः" पद धर्म और "दुःखा-ज्ञानानन्तफलाः" पद से फल का कथन किया है, यहां फलचिन्तन का नाम ही प्रतिपक्षभावन ह।

जिस प्रकार पापोत्पत्ति द्वारा वितर्कों का फल दुःख है इसी प्रकार तमोगुण के अधिक होजाने से पूर्वपादोक्त चार प्रकार का अज्ञान भी फल है और यह दोनों फल बीजाङ्कुर की भांति अनु-वर्त्तमान होने से अनन्त हैं, अतएव दुःखाज्ञानान्तफला कथन किया गया है।

सं०—अब अनुष्ठान द्वारा प्राप्त हुई यम, नियमों की सिद्धि का चिह्न निरूपण करते हैं:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

पद०—अहिंसाप्रतिष्ठायां। तत्सन्निधौ। वैरत्यागः।

पदा०—(अहिंसाप्रतिष्ठायां) अहिंसा के सिद्ध होने पर (तत्स-न्निधौ) उस योगी के समीपवर्ती (वैरत्यागः) विरोधी जीवों का भी विरोध निवृत्त होजाता है।

भाष्य—जिस योगी का महाव्रतरूप अहिंसा यम सिद्ध होगया है उसके समीप रहनेवाले विरोधी जीव भी विरोध का परित्याग कर देते हैं अर्थात् जब योगी के समीप उपस्थित हुए विरोधशील जीव भी परस्पर विरोध न करें और मित्रभाव को प्राप्त होजावें तब अहिंसा को सिद्ध हुआ जानना चाहिये। यह उसकी सिद्धि का

चिह्न है।

सं०—अब सत्य की सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

पद०—सत्यप्रतिष्ठायां। क्रियाफलाश्रयत्वम्।

पदा०—(सत्यप्रतिष्ठायां) सत्य के सिद्ध होने पर (क्रियाफलाश्रयत्वम्) योगी की वाणी क्रिया तथा फल का आश्रय होजाती है।

भाष्य—धर्म का नाम "क्रिया" और सुख का नाम "फल" है। जिस योगी को सत्य सिद्ध होगया है यदि वह अधार्मिक पुरुष को भी अपनी वाणी से **धार्मिको भव**=तू धार्मिक होजा, ऐसा कहदे तो वह धार्मिक होजाता है और दुःखी को **सुखी भव**=तू सुखी होजा, इस प्रकार कहदे तो वह उसके कथनानुसार आचरण करने से निश्चय सुखी होजाता है, इसी को क्रिया तथा फल का आश्रय होना कहते हैं।

भाव यह है कि जब योगी की वाणी व्यर्थ न जाए किन्तु जो कथन करे वह होजाये तब जानो कि सत्य सिद्ध हुआ, यह सत्य सिद्धि का चिह्न है।

सं०—अब अस्तेय सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

पद०—अस्तेयप्रतिष्ठायां। सर्वरत्नोपस्थानम्।

पद०—(अस्तेयप्रतिष्ठायां) अस्तेय के सिद्ध होजानें पर (सर्वरत्नोपस्थानम्) चारों दिशाओं में होनेवाले रत्नादि सम्पूर्ण पदार्थ स्वयमेव प्राप्त होजाते हैं।

भाष्य–जिस योगी का अस्तेय प्रतिष्ठित=सिद्ध होगया है उसके पास संसार के सम्पूर्ण पदार्थ उपस्थित होजाते हैं।

भाव यह है कि अस्तेय की तिष्ठा होने से योगी विश्वासार्ह होजाता है और विश्वासार्ह होने के कारण उसको सङ्कल्पमात्र से ही सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति होजाती है। जब इस प्रकार सिद्धास्तेय योगी के पास देश देशान्तरों के रत्नादि सम्पूर्ण पदार्थ सङ्कल्प-मात्र से उपस्थित होजायं तब जानना चाहिये कि अस्तेय प्रतिष्ठित अर्थात् सिद्ध होगया, यह उसकी सिद्धि का चिह्न है।

सं०—अब ब्रह्मचर्य्य की सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:–

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ।।३८।।

पद०—ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां। वीर्य्यलाभः।

पदा०—(ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां) ब्रह्मचर्य्य सिद्ध होने पर (वीर्य्य-लाभः) बल की प्राप्ति होती है।

भाष्य—आत्मिक तथा शारीरिक भेद से बल दो प्रकार का है, ब्रह्मचर्य्य की सिद्धिवाले योगी को दोनों प्रकार का बल प्राप्त होता है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस योगी का ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठित होगया है उसको अपूर्व सामर्थ्य की प्राप्ति होजाती है जिससे वह संसार तथा आत्मा का पूर्ण रीति से उपकार कर सकता है।

इसी ब्रह्मचर्य्य के विषय में अथर्ववेद में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।। अ० ११।३।१७

अर्थ—ब्रह्मचर्य्यरूप तप के होने से ही राजा स्वदेश की रक्षा कर सकता है और ब्रह्मचर्य्य से ही वेदादि सच्छास्त्रों के अध्यापन का सामर्थ्य आचार्य्य में होता है और:-

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ अथ० ११।३।१९

अर्थ—ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही विद्वान् मृत्यु को जय करते अर्थात् दीर्घायु होते हैं और परमात्मा भी ब्रह्मचारी विद्वानों को ही सम्पूर्ण सुख देता है।

अतएव मनुष्यमात्र को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना आवश्यक है और उक्त प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त होना ही उसकी सिद्धि का चिह्न है।

सं०—अब अपरिग्रह की सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥३९॥

पद०-अपरिग्रहस्थैर्य्ये । जन्मकथंतासंबोधः ।

पद०-(अपरिग्रहस्थैर्य्ये) अपरिग्रह सिद्ध होने पर (जन्मकथंतासंबोधः) जन्म के कथंभाव का ज्ञान होता है।

भाष्य—मनुष्यजन्म किस प्रकार सफल होसकता है और इसके लिये किस प्रकार के योग क्षेम की आवश्यकता है, वा थी, वा होगी, इस प्रकार के ज्ञान का नाम "जन्मकथंतासंबोध" है, जिस योगी का अपरिग्रहण सिद्ध होजाता है उसको जन्मकथंतासंबोध की प्राप्ति होती है यही अपरिग्रह का चिह्न है।

सं०—अब बाह्य शौच की सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

पद०—शौचात् । स्वाङ्गजुगुप्सा । परैः । असंसर्गः ।

पदा०—(शौचात्) बाह्यशौच की सिद्धि होने पर (स्वाङ्गजुगुप्सा) अपने शरीर में ग्लानि तथा (परैः) दूसरों के साथ (असंसर्गः) असम्बन्ध होता है ।

भाष्य—जब योगी को बाह्य शौच सिद्ध होता है, तब इसको अपने शरीर में अशुचिताबुद्धि उत्पन्न होती हैं, जैसा कि निम्नलिखित व्यासभाष्य में कथन किया है किः—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ व्या० भा० २।५

अर्थ—रक्त वीर्य्य से बनने, गर्भाशय में रहने, रुधिर तथा अस्थिमय होने, नासिकादि सर्वछिद्रों द्वारा मल के बहने, मृत्यु द्वारा अस्पृश्य और कल्पित शौच का आश्रय होने से इस शरीर को पण्डित लोग अशुचि कहते हैं ।

इस प्रकार अशुचि बुद्धि के उत्पन्न होने से शरीर में ग्लानि और ग्लानि से देहाध्यास की निवृत्ति होती है, ऐसा होने से दूसरों के साथ सम्बन्ध की इच्छा नहीं रहती अर्थात् एकान्तवासी होकर आत्मध्यान में तत्पर होजाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि देहाध्यास की निवृत्ति तथा एकान्तसेवन यह दोनों बाह्यशौच सिद्धि का चिह्न हैं ।

सं०—अब आभ्यन्तरशौचसिद्धि का चिह्न कथन करते हैंः—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

पद०—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्य-

त्वानि । च ।

पदा०—(च) और आभ्यन्तरशौच सिद्ध होजाने से (सत्त्व-शुद्धिसौ०) सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, ऐकाग्रय, इन्द्रियजय और आत्म-दर्शनयोग्यता की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—चित्तशुद्धि का नाम "सत्त्वशुद्धि", शुद्धि की अधिकता का नाम "सौमनस्य", ईश्वर में एकतान चित्त का नाम "ऐकाग्रय", इन्द्रियों का अपने अधीन होजाने का नाम "इन्द्रियजय" और विवेकज्ञान के योग्य होने का नाम "आत्मदर्शनयोग्यत्व" है । जब योगी मैत्री आदि भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करता है तब इसके रागादिक चित्तमल निवृत्त होकर चित्त शुद्ध होजाता है और चित्त की शुद्धि होने से स्फटिक की भांति नितान्त स्वच्छ हुआ एकाग्र होता है और एकाग्रता के अनन्तर योगी को इन्द्रियजय तथा विवेकख्याति की योग्यता प्राप्त होती है ।

तत्त्व यह है कि आभ्यन्तर शौच की सिद्धि होने से योगी को यथाक्रम चित्त की शुद्धि, स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है, यही आभ्यन्तर शौच की सिद्धि का चिह्न है ।

सं०—अब संतोष सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥४२॥

पद०—संतोषात् । अनुत्तमसुखलाभः ।

पदा०—(संतोषात्) सन्तोष सिद्धि होने पर योगी को (अनु-त्तमसुखलाभः) अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—जिस सुख से बढ़कर अन्य कोई सुख उत्तम नहीं उसको "अनुत्तमसुख" कहते हैं, सन्तोष की सिद्धि होने से योगी को

ऐसे सुख का लाभ होता है, जैसा कि मनुजी ने भी कहा है कि:—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्य्ययः ॥ मनु० ४।१२

अर्थ—पुरुष को सन्तोष से ही अनुत्तमसुख प्राप्त हो सकता है असन्तोष से नहीं क्योंकि सन्तोष ही अनुत्तम सुख का मूल है और इसके विपरीत तृष्णा दुःखों का मूलकारण है इसलिए अनुत्तम सुख की इच्छावाला पुरुष सन्तोष का सेवन करे। अनुत्तम सुख की प्राप्ति ही सन्तोष सिद्धि का चिह्न है।

सं० अब तप सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥

पद०—कायेन्द्रियसिद्धिः। अशुद्धिक्षयात्। तपसः।

पदा०—(तपसः) तप की सिद्धि होने से (अशुद्धिक्षयात्) अशुद्धिक्षय के अनन्तर योगी को (कायेन्द्रियसिद्धिः) शरीर तथा इन्द्रिय सिद्धि की प्राप्ति होती है।

भाष्य—रोगादिक से शरीर की तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों के यथार्थ ग्रहण की अशक्ति इन्द्रियों की अशुद्धि कहलाती है।

जब योगी का तप सिद्ध हो जाता है तब इसकी उक्त अशुद्धि क्षय होकर शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि अर्थात् उत्कृष्टता प्राप्त होती है। शरीर के सर्वथा स्वस्थ होजाने का नाम "कायसिद्धि" और दूरवर्त्ती तथा निकटवर्त्ती शब्दादि निखिल विषयों के यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति का नाम "इन्द्रियसिद्धि" है, इन दोनों शक्तियों का प्राप्त होना तप सिद्धि का चिह्न है।

सं०—अब स्वाध्याय सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥४४॥

पद०—स्वाध्यायात् । इष्टदेवतासंप्रयोगः ।

पदा०—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय के सिद्ध होने से (इष्टदेवता-संप्रयोगः) इष्टदेव परमात्मा का दर्शन होता है ।

भाष्य—परमात्मा में मन का स्थित होना स्वाध्यायसिद्धि का चिह्न है ।

सं०—अब ईश्वरप्रणिधान सिद्धि का चिह्न कथन करते हैं:—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

पद०—समाधिसिद्धिः । ईश्वरप्रणिधात् ।

पदा०—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान सिद्ध होने से (समाधिसिद्धिः) समाधि की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—समाधिसिद्धि ईश्वरप्रणिधानसिद्धि का फल है ।

भाव यह है कि ईश्वर के प्रणिधान से निर्विघ्नतापूर्वक सिद्ध हुए यम नियमादि योग के अङ्गों द्वारा शीघ्र ही योगी को समाधि का लाभ होता है ।

सं०—यम नियमों की सिद्धि का चिह्न कथन करके अब आसन का कथन करते हैं:—

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥

पद०—स्थिरसुखम् । आसनम् ।

पदा०—(स्थिरसुखं) स्थिर तथा सुखदाई का नाम (आसनं) आसन है ।

भाष्य—सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन , स्वस्तिकासन इत्यादि अनेक प्रकार के आसन हैं, इन आसनों में से जिनके

द्वारा योगी को निश्चलता तथा सुख की प्राप्ति हो वही आसन अनुष्ठेय है।

बांई एड़ी को सीवन में और दांई को मेढ़ू के ऊपर रखने से जो आसन बन जाता है उसका नाम "सिद्धासन" है और यह लोक-प्रसिद्ध है।

वाम उरु के ऊपर दहने पांव को और दक्षिण उरु के ऊपर बाम पांव को रखकर उनके अंगूठों को पीठ के पीछे से दोनों हाथों द्वारा पकड़ने से जो आसन बन जाता है उसका नाम "पद्मासन" है।

खड़े होकर एक पांव को उठा दूसरे पांव के जानु पर रखने से जो आसन बन जाता है उसको "वीरासन" कहते हैं।

दोनों पांवों के तलों को अण्डकोश के समीप जोड़कर उसके ऊपर दोनों हाथों की तलियों को मिलाकर रखने से जो आसन बन जाता है उसका नाम "भद्रासन" है।

वाम पांव को दायें जानु के बीच में और दायें पांव को बाम जानु के बीच में दबाकर बैठने से जो आसन बन जाता है उसका नाम "स्वास्तिकासन" है।

इसी प्रकार दण्डासन, सोपाश्रय.पर्य्यङ्क, क्रौंचनिषदन, हस्ति-निषदन, उष्ट्रनिषदन इत्यादि आसनों के लक्षण भी जानने चाहियें।

सं०—अब आसनसिद्धि का उपाय कथन करते हैं:—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

पद०–एकपद०।

पदा०—(प्रयत्नशैथिल्या०) स्वाभाविक प्रयत्न की शिथिलता और पशु पक्षी सरीसृप=सर्प गोह आदि प्राणियों के अनन्तविध

आसनों का चिन्तन करने से आसन की सिद्धि होती है।

भाष्य–स्वभावसिद्ध प्रयत्न के न्यून कर देने का नाम "प्रयत्न-शैथिल्य" और अनेकविध प्राणियों के आसन की भावना का नाम "अनन्तसमापत्ति" है, जब योगी निरन्तर प्राणियों के आसन अर्थात् बैठने के प्रकार का चिन्तन करता हुआ स्वयं आसन लगाने की चेष्टा करता है और आसन के समय अपने स्वाभाविक प्रयत्न को शिथिल कर देता है तव इसका आसन सिद्ध होजाता है अर्थात् जिस प्रकार का आसन लगाना चाहे लगा सकता है।

सं०—अब आसनसिद्धि का फल कथन करते हैं:—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥

पद०—ततः। द्वन्द्वानभिघातः।

पदा०–(ततः। आसन के सिद्ध होने से (द्वन्द्वानभिघातः) शीत, उष्णादि द्वन्द्वों का प्रतिकूल सम्बन्ध नहीं होता।

भाष्य—जब योगी का आसन सिद्ध होजाता है तब इसको शीत उष्णादि द्वन्द्व नहीं सताते।

सं०—अब प्राणायाम का लक्षण कथन करते हैं:—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

पद०—तस्मिन्। सति। श्वासप्रश्वासयोः। गतिविच्छेदः। प्राणायामः।

पदा०—(तस्मिन्, सति) आसन की सिद्धि होने पर (श्वासप्रश्वासयोः) श्वास, प्रश्वास की (गतिविच्छेदः) गति के अभाव का नाम (प्राणायामः) प्राणायाम है।

भाष्य—बाहर की वायु का भीतर जाना "श्वास" और भीतर की वायु का बाहर आना "प्रश्वास" कहलाता है। योगशास्त्र की रीति से इन दोनों की गति के अभाव को प्राणायाम कहते हैं।

यहां यह भी स्मरण रहे कि जैसे अन्यकाल में अनुष्ठान किए हुए यम नियम योग का अङ्ग हो सकते हैं वैसे आसन नहीं, किन्तु योग से अव्यवहित पूर्व ही अनुष्ठान किया हुआ योग का अङ्ग हो सकता है इसी के बोधन करने को सूत्र में "तस्मिन् सति" पद दिया है।

सं०—अब अवान्तर भेदों के सहित उक्त प्राणायाम का निरूपण करते हैं :-

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

पद०—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः। देशकालसंख्याभिः। परिदृष्टः। दीर्घसूक्ष्मः।

पदा०—(बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, तथा स्तम्भवृत्ति, इस भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है और वह (देशकालसंख्याभिः) देश, काल तथा संख्या द्वारा (परिदृष्टः) परीक्षा किया हुआ (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घसूक्ष्म कहा जाता है।

भाष्य—जिस प्राणायाम में प्रश्वासपूर्वक प्राणगति का अभाव होता है उसका नाम "बाह्यवृत्ति" अर्थात् रेचक प्राणायाम है, क्योंकि उसमें बाहर गई वायु का बाहर ही अभाव होजाता है और जिस प्राणायाम में श्वासपूर्वक प्राणगति का अभाव होता है उसका नाम "आभ्यन्तरवृत्ति" अर्थात् पूरकप्राणायाम है क्योंकि उसमें बाहर से भीतर गई वायु का भीतर ही अभाव होजाता है

और जिस प्राणायाम में श्वास-प्रश्वासपूर्वक प्राणगति का अभाव होता है उसका नाम "स्तम्भवृत्ति" अर्थात् कुम्भक प्राणायाम है क्योंकि उसमें कुम्भस्थ जल की भांति देह के भीतर निश्चलतापूर्वक प्राण की स्थिति होती है।

जब यह तीनों प्राणायाम देश, काल तथा संख्या के द्वारा परीक्षित हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं तब इनका नाम "दीर्घसूक्ष्म" होता है।

बाहर भीतर के देश का नाम "देश" क्षणों की इयत्ता का नाम "काल" और मात्रा की इयत्ता का नाम "संख्या" है।

प्राणायाम का इतना देशविषय है, इस ज्ञान का नाम "देश-परीक्षा" है। रेचक प्राणायाम के देश का ज्ञान नासिका के आगे प्रादेश, वितस्ति तथा हस्तपरिमाण पर रखे हुए इषीका तूल के कम्प से, और पूरक प्राणायाम के देश का ज्ञान चलती हुई भूरी चींटी के स्पर्श समान प्राणों के स्पर्श से होता है कि प्रादेश वितस्ति वा हस्तपर्य्यन्त, नाभि वा पादतल पर्य्यन्त प्राण की गति है। और उक्त दोनों चिह्नों के न पाए जाने से कुम्भकप्राणायाम के देश का ज्ञान होता है।

इतने क्षण पर्य्यन्त प्राणायाम की स्थिति होती है, इस ज्ञान का नाम "कालपरीक्षा" है, यह ज्ञान घड़ी आदि यन्त्र से होता है।

स्वस्थपुरुष की श्वास प्रश्वासक्रिया में जितना काल लगता है उतने काल का नाम "मात्रा" है। इतनी मात्रा पर्य्यन्त प्राणायाम की स्थिति होती है इस ज्ञान का नाम "संख्यापरीक्षा" है।

इस प्रकार परीक्षा से अभ्यस्यमान हुए प्राणायाम की अल्पकाल में ही दिवस, मास, वर्ष आदि पर्य्यन्त स्थिति होजाती है, ऐसी

स्थितिवाले प्राणायाम का नाम "दीर्घसूक्ष्म" है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे धुनी हुई रूई फैलकर दीर्घ तथा सूक्ष्म होजाती है वैसे ही अभ्यास द्वारा देश कालादि की वृद्धि से वर्द्धित हुआ प्राणायाम भी दीर्घ तथा सूक्ष्म होजाता है इसी कारण योगी लोग उसको दीर्घसूक्ष्म कहते हैं।

यहां इतना स्मरण रहे कि सूत्र में जो रेचक, पूरक, कुम्भक, ऐसा क्रम लिखा है वह पाठक्रम है अनुष्ठान क्रम नहीं, क्योंकि उत्सर्ग से पूरक, कुम्भक, रेचक, यह क्रम ही अनुष्ठानक्रम है।

सं०—अब उक्त तीनों प्राणायामों के फलभूत चतुर्थ प्राणायाम का निरूपण करते हैं:—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

पद०—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी। चतुर्थः।

पदा०—(बाह्या०) रेचक, पूरक, प्राणायाम की अपेक्षा से रहित प्राणायाम का नाम "बाह्यविषय" और पूरक का नाम "आभ्यन्तरविषय" है। विषय, देश, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, अतिक्रमण को "आक्षेप" कहते हैं और आक्षेपशील का नाम "आक्षेपी" है, जिसका प्राणायाम में रेचक तथा पूरक प्राणायाम के अतिक्रमण सें प्राणों का निरोध होता है अर्थात् जिस प्राणायाम में दोनों की अपेक्षा से रहित घटीलेवर की भांति असकृत् प्रयत्न से शनैः शनैः प्राण स्थित होते हैं उसको "चतुर्थप्राणायाम" कहते हैं। इसका दूसरा नाम "केवलकुम्भक" प्राणायाम है।

सं०—अब प्राणायाम का फल कथन करते हैं:—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

पद०—ततः। क्षीयते। प्रकाशावरणम्।

पदा०—(ततः) प्राणायाम से (प्रकाशावरणं) बुद्धिसत्त्व का आच्छादक क्लेश तथा पाप (क्षीयते) क्षीण होजाता है ।

भाष्य—बुद्धिसत्त्व का नाम 'प्रकाश" और उसमें होनेवाले विवेकज्ञान के प्रतिबन्धक अविद्यादि क्लेश तथा तन्मूलक पापों का नाम "आवरण" है । जब योगी का प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है तब उक्त दोनों आवरण क्षीण होजाते हैं और क्षीण होने से पुनः विवेकज्ञान के प्रतिबन्धक नहीं होते ।

सं०—अब अन्यफल कथन करते हैं:—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

पद०—धारणासु । च । योग्यता । मनसः ।

पदा०—(च) और (धारणासु) धारणाओं में (मनसः) चित्त की (योग्यता) सामर्थ्य होजाता है ।

भाष्य—धारणा का लक्षण और उसके अनेक भेदों का निरूपण आगे विभूतिपाद में करेंगे । प्राणायाम के सिद्ध होने से चित्त धारणा के योग्य होजाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जब चित्त प्राणायाम से क्षीणावरण होजाता है तब जिस पदार्थ में लगाया जाए उसी में स्थिर होजाता है अर्थात् फिर विक्षिप्त नहीं होता । चित्त का विक्षि न होना ही प्राणायाम सिद्धि का चिह्न है ।

सं०—अब प्रत्याहार का लक्षण करते :—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

पद०—स्वविषयासंप्रयोगे । चित्तस्वरूपानुकारः । इव । इन्द्रि-

याणां । प्रत्याहारः ।

पदा०—(स्वविषयासंप्रयोगे) अपने अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने के कारण (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों की (चित्तस्वरूपानुकारः, इव) चित्त स्थिति के समान स्थिति का नाम (प्रत्याहारः) प्रत्याहार है ।

भाष्य—जब यम नियमादिकों के अनुष्ठान द्वारा संस्कृत हुआ चित्त विषयों से विमुक्त होकर स्थित होजाता है, तब चित्त के अधीन अपने अपने विषयों में संचार करनेवाली इन्द्रियां भी विषयों से विमुख होकर स्थित होजाती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्त स्थिति के समान जो स्थिति है उसी को "प्रत्याहार" कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि इन्द्रियों का बाह्य विषयों में जाना सहज स्वभाव है, उस सहजस्वभाव के विपरीत अन्तर्मुख होने को प्रत्याहार कहते हैं ।

सं०—अब प्रत्याहार का फल कथन करते हैं:-

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

पद०—ततः । परमा । वश्यता । इन्द्रियाणाम् ।

पदा० (ततः) प्रत्याहार के सिद्ध होने से (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियां (परमा, वश्यता) अत्यन्त वश होजाती हैं ।

भाष्य—जिस योगी का प्रत्यहार सिद्ध होजाता है उसकी इन्द्रियां अत्यन्त वश में होजाती हैं अर्थात् उसको इन्द्रियजय की प्राप्ति होती है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि शब्दादि विषयों में आसक्ति के अभाव का नाम इन्द्रियजय है, ऐसा कोई एक मानते हैं और

कोई एक वेदाविरुद्ध विषयों में प्रवृत्ति और निषिद्ध में अप्रवृत्ति को इन्द्रियजय मानते हैं और कोई एक विषयाधीन होकर स्वेच्छा से विषयों में प्रवृत्ति को इन्द्रियजय मानते हैं और कोई एक राग द्वेष से रहित केवल मध्यस्थभाव से विषयों में प्रवृत्ति को इन्द्रियजय कहते हैं और महर्षि जैगीषव्य एकाग्र होने के कारण इन्द्रियों के सहित चित्त की विषयों में अप्रवृत्ति को इन्द्रियजय मानते हैं, यही इन्द्रियजय सूत्रकार को इष्ट है।

दोहा

क्रियायोग, क्लेश, हेय, कारण, हान, निदान।
यम नियमादिक कथनकर, किया पाद अवसान।।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, योगार्य्यभाष्ये
द्वितीयः साधनपादः समाप्तः।

ओ३म्

अथ तृतीयो विभूतिपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम और द्वितीय पाद में योग तथा योग के साधनों का निरूपण किया, अब तृतीय पाद में विभूतियों का निरूपण करते हुए प्रथम धारणा का लक्षण करते हैं:—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

पद०—देशबन्धः । चित्तस्य । धारणा ।

पदा०—(चित्तस्य) चित्तका (देशबन्धः) देश विशेष में स्थिर करना (धारणा) धारणा कहलाती है ।

भाष्य—नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्द्धज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, तालु आदि प्रदेशों में वृत्तिद्वारा चित्त को बांधना=स्थिर करना धारणा कहलाती है । बांधना, स्थिर करना, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, तात्पर्य्य यह है कि नाभिचक्रादि विषयों में चित्त की स्थिति का नाम धारणा है ।

सं०—अब ध्यान का लक्षण करते हैं:—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

पद०—तत्र । प्रत्ययैकतानता । ध्यानम् ।

पदा०—(तत्र) धारणा के अनन्तर ध्येय पदार्थ में होनेवाले (प्रत्ययैकतानता) चित्तवृत्ति की एकतानता को (ध्यानं) ध्यान कहते हैं ।

भाष्य—चित्तवृत्ति का नाम "प्रत्यय" और प्रयत्नों के एक-

रस प्रवाह का नाम "एकतानता" है, योगी के चित्त में जो ध्येय-मात्र को विषय करनेवाली विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों की एकतानता उदय होती है उसी का नाम "ध्यान" है ।

सं०—अब समाधि का लक्षण करते हैं:—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३ ।

पद०—तत् । एव । अर्थमात्रनिर्भासं । स्वरूपशून्यं । इव । समाधिः ।

पदा०-(स्वरूपशून्यं, इव) अपने ध्यानात्मकरूप से रहित (अर्थमात्रनिर्भासं) केवल ध्येयरूप से प्रतीत होनेवाले (तत् एव) उक्त ध्यान का ही नाम (समाधिः) समाधि है ।

भाष्य-जैसे रक्तपुष्प की समीपता से स्फटिकमणि अपने श्वेत रूप को त्यागकर केवल पुष्प के रक्तरूप से रक्त प्रतीत होती वैसे ही जब ध्यान ही प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा अपने ध्यानात्मक रूप को त्यागकर केवल ध्येयरूप से प्रतीत होता है तब उसको "समाधि" कहते हैं ।

भाव यह है कि चित्त की जिस एकाग्र अवस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येयरूप त्रिपुटि का भान होता है उसको ध्यान और केवल ध्येय के भान को समाधि कहते हैं और जिस अवस्था में योगी को उक्त समाधि के अभ्यास से ध्येय, अध्येय सर्वपदार्थों का हस्तामलकवत् साक्षात्कार होता है उसको "सम्प्रज्ञातसमाधि" कहते हैं ।

सं०—अब योगशास्त्र के अनुसार उक्त तीनों की एक संज्ञा कथन करते हैं:-

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

पद०—त्रयम् । एकत्र । संयमः ।

पदा०—(एकत्र) एक विषय में होनेवाले (त्रयम्) तीनों का नाम (संयमः) संयम है ।

भाष्य—जिस विषय में धारणा की गई है यदि उसी विषय में ध्यान और समाधि भी कीजाय तो योगशास्त्र की परिभाषा में उक्त तीनों को संयम कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि जब धारणा, ध्यान तथा समाधि का समान विषय हो तब योगशास्त्र में इसका नाम "संयम" है ।

सं०—अब संयम सिद्धि का फल कथन करते हैं:—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥५॥

पद०—तज्जयात् । प्रज्ञालोकः ।

पदा०—(तज्जयात्) संयम के सिद्ध होजाने से योगी को (प्रज्ञालोकः) प्रज्ञालोक की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों के निर्मलप्रवाह में बुद्धि की स्थिरता का नाम "प्रज्ञालोक" है । जब अभ्यास के बल से संयम दृढ़ होजाता है तब योगी को उक्त प्रज्ञालोक प्राप्त होता है ।

भाव यह है कि जैसे जैसे संयम स्थिर होता जाता है वैसे-वैसे ही समाधि में होनेवाली प्रज्ञा भी निर्मल होती जाती है उसकी निर्मलता से जो योगी को ईश्वर पर्य्यन्त भूत भौतिक सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्काररूप प्रज्ञा का लाभ होता है वही प्रज्ञालोक संयमजय का फल है ।

सं०—अब उक्त फल की सिद्धि के लिए संयम का विनियोग कथन करते हैं :—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

पद०– तस्य । भूमिषु । विनियोगः ।

पदा०—(तस्य) संयम का (भूमिषु) सवितर्क आदि योग भूमियों में (विनियोगः) विनियोग है ।

भाष्य—विनियोग नाम सम्बन्ध का है, प्रथमपाद में सवितर्क, निर्वितर्क आदि भेद मे चार प्रकार की योगभूमियों का निरूपण किया है उन भूमियों में संयम का सम्बन्ध होने से योगी को प्रज्ञालोक की प्राप्ति होती है ।

तात्पर्य्य;यह है कि प्रज्ञालोक की प्राप्ति के लिये प्रथम योगी संयम द्वारा सवितर्क समाधि की स्थिरता का सम्पादन करे और उसके स्थिर होजाने से निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार समाधि की स्थिरता के लिये संयम करे, इस प्रकार पूर्व पूर्व भूमि की स्थिरता के अनन्तर उत्तरोत्तर भूमि की स्थिरता के लिए उक्त भूमियों में संयम के सम्बन्ध का नाम ही "विनियोग" है और इसी का फल प्रज्ञालोक है ।

यहां इतना स्मरण रहे कि जिस योगी को ईश्वरकृपा वा महापुरुषों के अनुग्रह से प्रथम ही उत्तर भूमि की सिद्धि होगई है उसको नीचे की भूमियों में संयम करने की कोई आवश्यकता नहीं, केवल स्वप्रयत्ननिर्भर योगी के लिये ही पूर्व पूर्व भूमिजय के अनन्तर उत्तरोत्तर भूमि के विजयार्थ संयम अपेक्षित है ।

सं०—अब धारणादि तीनों को सम्प्रज्ञात योग का का अन्तरङ्ग साधन कथन करते हैं:—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

पद०—त्रयम् । अन्तरङ्गं । पूर्वेभ्यः ।

पदा०-(त्रयम्) धारणा, ध्यान, समाधि, यह तीनों (पूर्वेभ्यः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, इन पांचों की अपेक्षा (अन्तरङ्गं) सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन हैं ।

भाष्य—जिस अङ्ग का विषय अपने अङ्गी के समान है उस को "अन्तरङ्ग" और दूसरे को बहिरङ्ग, साधन कहते हैं ।

धारणा, ध्यान, समाधि और सम्प्रज्ञात योग का समान विषय है यम अदिकों का नहीं, इसलिए धारणादि तीनों सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरङ्ग और यम आदि बहिरङ्ग साधन हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि धारणादि तीनों समान विषय होने के कारण योग को साक्षात् सिद्ध करते हैं और यम आदि पांचों चित्त शुद्धि द्वारा सिद्ध करते हैं, इसलिये यमादिक परम्परया साधन होने से बहिरङ्ग और धारणादि तीनों साक्षात् साधन होने से योग के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं ।

सं०—अब उक्त धारणादि तीनों को निर्बीज योग का बहिरङ्ग अङ्ग कथन करते हैं: -

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥८॥

पद०—तत् । अपि । बहिरङ्गं । निर्बीजस्य ।

पदा०—(तत्) धारणादि तीनों (अपि) भी (निर्बीजस्य) असम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं ।

भाष्य—जैसे यम आदि पांच चित्तशुद्धि द्वारा कारण होने से सम्प्रज्ञात योग के बहिरङ्ग साधन हैं वैसे ही धारणादि तीनों

भी परवैराग्य द्वारा कारण होने से असम्प्रज्ञात योग के बहिरङ्ग साधन हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे यम आदिकों के अनुष्ठान से प्रथम चित्तशुद्धि और पश्चात् सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है इसी प्रकार धारणादि के अभ्यास से प्रथम सम्प्रज्ञात योग और पश्चात् परवैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है इसलिए परम्परया कारण होने से यम आदि की भांति धारणादि तीनों भी असम्प्रज्ञात योग के बहिरङ्ग साधन हैं।

सं०—धारणा, ध्यान, समाधि, का निरूपण करके अब तत्साध्य विभूतियों का निरूपण करने के लिए उनके विषय परिणामत्रय का निरूपण करते हुए प्रथम प्रसंगसङ्गति से असम्प्रज्ञात काल में होनेवाले निरोधरूप चित्तपरिणाम का स्वरूप दिखाते हैं:-

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

पद०—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः। अभिभवप्रादुर्भावौ। निरोधक्षणचित्तान्वयः। निरोधपरिणामः।

पद०—(निरोधक्षणचित्तान्वयः) निरुद्ध चित्त में होनेवाले (व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) सम्प्रज्ञात तथा परवैराग्यजन्य संस्कारों के (अभिभवप्रादुर्भावौ) तिरोभाव और आविर्भाव का नाम (निरोधपरिणामः) निरोधपरिणाम है।

भाष्य—जैसे सम्प्रज्ञातसमाधि की अपेक्षा क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, यह तीनों चित्तभूमि व्युत्थान हैं वैसे ही असम्प्रज्ञातसमाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात भी व्युत्थान है, इसीलिये यहां सम्प्रज्ञातसमाधि

का नाम "व्युत्थान" और परवैराग्य का नाम "निरोध" है, क्योंकि इसी के उदय होने से सम्प्रज्ञात का निरोध होता है। प्रतिक्षण क्षय का नाम "अभिभव" और प्रतिक्षण उदय का नाम "प्रादुर्भाव" है। अभिभव, तिरस्कार, क्षय, दबजाना यह और प्रादुर्भाव, आविर्भाव, उदय, अभ्युदय, प्रकट होना, यह पर्य्यायवाची शब्द हैं, जिस क्षण में निरोध विद्यमान है उसको "निरोधक्षण" और उसमें होनेवाले चित्त को "निरोधक्षणचित्त" और व्युत्थान तथा निरोधजन्य संस्कारों के साथ धर्मीरूप से होनेवाले उक्तचित्त के सम्बन्ध को "निरोधक्षणचित्तान्वय" कहते हैं, जिस क्षण में चित्त निरोध को प्राप्त है उस निरोधक्षणचित्तधर्मी में जो प्रतिक्षण व्युत्थान संस्कारों का क्षय और निरोधजन्य संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है उसी का नाम निरोधकाल में होने के कारण "निरोधपरिणाम" है।

भाव यह है कि असम्प्रज्ञातसमाधिकालीनचित्तधर्मी में जो प्रतिक्षण व्युत्थान संस्कारों का क्षय और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है उसको निरोधपरिणाम कहते हैं।

यहां इतना स्मरण रहे कि धर्म, लक्षण तथा अवस्था भेद से परिणाम तीन प्रकार का है और वह सम्पूर्ण जड़ पदार्थों में नियम से होता है, जैसा कि:—सर्वे भावाः क्षणपरिणामिन ऋते चिच्छ ते = चेतनशक्ति पुरुष के विना सम्पूर्ण पदार्थ क्षणपरिणामी हैं, विद्यमानधर्मी में पूर्वधर्म के अभिभवपूर्वक धर्मान्तर के प्रादुर्भाव का नाम "धर्मपरिणाम" है अर्थात् धर्मः परिणामः=धर्मपरिणामः= धर्मों के अभिभव तथा प्रादुर्भावपूर्वक जो धर्मी का परिणाम है उसको धर्मपरिणाम कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि मृत्तिका, सुवर्णादिरूप धर्मी के विद्यमान

होने पर जो उसमें कपाल, स्वस्तिकादिरूप पूर्वधर्म के तिरोभाव-पूर्वक घट, रुचक ग्रादिरूप धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है उसी का नाम धर्मपरिणाम है।

कारणरूप तथा स्वरूप से विद्यमान धर्मों को ग्रनागत ग्रादि काल के परित्यागपूर्वक वर्त्तमान ग्रादि काल की प्राप्ति का नाम **"लक्षणपरिणाम"** है ग्रर्थात् **लक्ष्यते=व्यावर्त्यते धर्मो धर्मान्तरादनेन, तल्ल-क्षणं, तेन धर्माणां परिणामो लक्षणपरिणामः**=जो एक धर्म को दूसरे धर्म से भिन्न करता है उस ग्रनागत, वर्त्तमान तथा ग्रतीतकाल का नाम **"लक्षण"** है, उसके द्वारा जो घट, रुचक ग्रादि धर्मों में ग्रनागतकाल के परित्यागपूर्वक वर्त्तमानकाल का ग्रहणरूप ग्रथवा वर्त्तमानकाल के परित्यागपूर्वक ग्रतीतकाल का ग्रहणरूप परिणाम है उसी को लक्षणपरिणाम कहते हैं।

वर्त्तमान धर्मों में प्रथम ग्रवस्था के परित्यागपूर्वक दूसरी ग्रवस्था की प्राप्ति का नाम **"ग्रवस्थापरिणाम"** है ग्रर्थात् **वर्त्तमान-लक्षणानां धर्माणामवस्थाभिः परिणामः ग्रवस्थापरिणामः**=वर्त्तमान धर्मों का जो प्रतिक्षण नूतनता ग्रादि पूर्व पूर्व ग्रवस्था को छोड़कर पुराणता ग्रादि उत्तर उत्तर ग्रवस्था को प्राप्त होना है उसी को अवस्था के द्वारा होने के कारण ग्रवस्थापरिणाम कहते हैं। ग्रौर सूत्र में जो निरोधपरिणाम कथन किया है वह धर्मपरिणाम है, क्योंकि चित्तरूप धर्मी के विद्यमान होने पर व्युत्थान संस्काररूप पूर्वधर्म के ग्रभिभवपूर्वक निरोधसंस्काररूप धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है ग्रौर निरोधसंस्काररूप धर्म को जो ग्रनागतकाल के परि-त्यागपूर्वक वर्त्तमानकाल का लाभ होता है उसको लक्षणपरिणाम कहते हैं, ग्रौर निरोधसंस्कारों को जो ग्रपनी पूर्व पूर्व ग्रवस्था के त्यागपूर्वक उत्तरोत्तर बलवत्तरादि ग्रवस्था की प्राप्ति होती है वह

अवस्थापरिणाम है।

सं०—अब प्रादुर्भूत हुए निरोधसंस्कारों का फल कथन करते हैं:—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

पद०—तस्य। प्रशान्तवाहिता। संस्कारात्।

पदा०—(संस्कारात्) निरोधरूप संस्कारों से (तस्य) चित्त को (प्रशान्तवाहिता) प्रशान्तवाहिता की प्राप्ति होती है।

भाष्य—व्युत्थानसंस्काररूपमल से रहित निरोधरूप संस्कारों की उत्तरोत्तर अविच्छिन्न परम्परा का नाम "प्रशान्तवाहिता" है। अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास के बल से व्युत्थान संस्कारों के सर्वथा तिरोभाव होजाने पर जो निरोधसंस्कारों के अविच्छिन्न निर्मल प्रवाह में योगी के चित्त की स्थिति होती है उसी को प्रशान्तवाहिता कहते हैं, और यही प्रादुर्भूत हुए निरोध संस्कारों का फल है।

यहां इतना स्मरण रहे कि व्युत्थानसंस्कार तथा निरोध-संस्कार यह दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं, यदि योगी प्रमाद से अभ्यास द्वारा प्रादुर्भूत हुए निरोधसंस्कारों की प्रबलता का सम्पादन न कर सके तो उनसे व्युत्थानसंस्कारों का तिरोभाव नहीं होगा और उसके न होने से उक्त फल की प्राप्ति भी न होगी, इसलिए योगी को उचित है कि वह प्रादुर्भूत हुए निरोधसंस्कारों का ऐसा अभ्यास करे कि वह नितान्त प्रबल होजायं और उनके प्रबल होने से व्युत्थान संस्कारों का तिरोभाव होजाय।

सं०—अब सम्प्रज्ञातसमाधि में होनेवाले चित्तपरिणाम का कथन करते हैं:—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ।।११।।

पद०—सर्वार्थतैकाग्रतयोः । क्षयोदयौ । चित्तस्य । समाधि-परिणामः ।

पदा०—(चित्तस्य) चित्त में होनेवाले (सर्वार्थतैकाग्रतयोः) विक्षिप्तता तथा एकाग्रता के (क्षयोदयौ) नाश और आविर्भाव का नाम (समाधिपरिणामः) समाधिपरिणाम है ।

भाष्य—प्रतिक्षण अनेक विषयों में चित्त के गमन का नाम "सर्वार्थता" और एक ईश्वर में चित्त की स्थिति का नाम "एकाग्रता" है, तिरोभाव का नाम "क्षय" तथा प्रादुर्भाव का नाम "उदय" है । जब योगी को सम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति होती है तब समाहित चित्त में सर्वार्थताधर्म के क्षयपूर्वक जो एकाग्रता धर्म उदय होता है उसको "समाधिपरिणाम" कहते हैं ।

भाव यह है कि सम्प्रज्ञातसमाधि में सर्वार्थताधर्म के क्षय-पूर्वक एकाग्रताधर्म का उदयरूप चित्तपरिणाम होता है । इस समाधिपरिणाम तथा पूर्वोक्त निरोधपरिणाम में इतना भेद है कि निरोधपरिणाम में व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव और समाधिपरिणाम में संस्कार के जनक व्युत्थान का क्षय तथा एकाग्रताधर्म का आविर्भाव होता है ।

सं०—अब एकाग्रता परिणाम का लक्षण कथन करते हैं:—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैका-ग्रतापरिणामः ।।११ ।

पद०—ततः । पुनः । शान्तोदितौ । तुल्यप्रत्ययौ । चित्तस्य । एकाग्रतापरिणामः ।

पदा०—(ततः) सर्वार्थता के क्षय होने पर (पुनः) फिर (चित्तस्य) चित्त में (तुल्यप्रत्ययौ) समानप्रकार के (शान्तोदितौ) अतीत तथा वर्त्तमान प्रत्ययों के उदय का नाम (एकाग्रतापरिणामः) एकाग्रतापरिणाम है।

भाष्य—अतीत का नाम "शान्त" वर्त्तमान का नाम "उदित" और एक ही विषय में होनेवाले प्रयत्नों का नाम 'तुल्यप्रत्यय" है। वृत्ति, प्रत्यय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं। जिस परिणाम में चित्त की प्रथमवृत्ति के समान ही दूसरी और दूसरी के समान ही तीसरी, इस प्रकार अतीत वर्त्तमान वृत्तियां तुल्य उत्पन्न होती हैं उस का नाम 'एकाग्रतापरिणाम" है अर्थात् जिस प्रकार समाधि परिणाम में प्रथम सर्वार्थताप्रत्यय और उसके निवृत्त होनेपर एकाग्रताप्रत्यय विलक्षण उत्पन्न होता है इसप्रकार एकाग्रतापरिणाम में नहीं, किन्तु उसके विपरीत दृढ़ अभ्यास के बल से जिस विषयविषयक प्रथम प्रत्यय उत्पन्न हुआ है उसके शान्त होनेपर उसी विषय-विषयक दूसरा और उसके शान्त होनेपर तीसरा और फिर चौथा इस प्रकार समान प्रत्यय उत्पन्न होते हैं उसको "एकाग्रतापरिणाम" कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि व्युत्थान प्रत्यय के निवृत्त होने पर चित्त में एकतान प्रत्ययों के उदय का नाम एकाग्रतापरिणाम है।

यहां इतना स्मरण रहे कि योगी के चित्त का उक्त परिणाम तब तक ही होता रहता है जब तक वह समाधि में स्थित है समाधि से उत्थान होनेपर क्लेश के हेतु विक्षेपप्रत्यय पुनः उत्पन्न होजाते हैं, इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होने पर ही योगी अपने आपको कृतकार्य्य न मानले किन्तु विक्षेप प्रत्ययों की अत्यन्त

निवृत्ति के लिये अभ्यास में तत्पर हुआ निरोधसमाधि का सम्पादन करे।

सं०—अब चित्त की भांति भूतादिक पदार्थों में भी उक्त तीन प्रकार के परिणामों का निरूपण करते हैं:—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

पद०—एतेन। भूतेन्द्रियेषु। धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः। व्याख्याताः।

पदा०— (एतेन) चित्त के समान (भूतेन्द्रियेषु) भूत और इन्द्रियों में भी (धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः) धर्मपरिणाम. लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम, यह तीनों परिणाम (व्याख्याताः) जानने चाहियें।

भाष्य पृथिवी आदि का नाम "भूत" और चक्षु आदि का नाम 'इन्द्रिय" है। धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्था परिणाम का स्वरूप इसी पाद के ९वें सूत्र में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। जिस प्रकार यह तीनों परिणाम चित्तधर्मी में होते हैं इसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों और चक्षु आदि इन्द्रियों में भी होते हैं।

भाव—यह है कि पिण्डाकार तथा कपालरूप पूर्व धर्म के तिरोभावपूर्वक जो घटरूप धर्म का प्रादुर्भाव है वह पृथिवी का "धर्मपरिणाम" और घटरूपधर्म का जो अनागत लक्षण के परित्यागपूर्वक वर्त्तमान लक्षणवाला होना है वह "लक्षणपरिणाम" और वर्तमानलक्षण घट का जो नूतनतमता, नूतनतरता, नूतनतादि के परित्यागपूर्वक क्षण क्षण में पुराणतादि को प्राप्त होना है वह

"अवस्थापरिणाम" है। एवं नीलादि विषयों का जो चाक्षुषज्ञान है वह चक्षु इन्द्रिय का "धर्मपरिणाम" है, उक्त ज्ञान का जो अनागत लक्षण से परित्यागपूर्वक वर्त्तमान लक्षणवाला होना है वह "लक्षणपरिणाम" और वर्त्तमान दशा में उक्तज्ञान का जो प्रतिक्षण स्फुटतादि के परित्यागपूर्वक अस्फुटतादि को प्राप्त होना है वह "अवस्थापरिणाम" है। इसी प्रकार जलादिभूतों और अन्य इन्द्रियों में भी उक्त तीनों प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

यहां इता स्मरण रहे कि जो धर्मीमात्र में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम भेद से तीन प्रकार के परिणाम कथन किये हैं इनमें एक अवस्थापरिणाम ही मुख्य है और धर्मपरिणाम तथा लक्षपरिणाम यह दोनों इसी का भेदविशेष हैं क्योंकि मृत्तिका ही पूर्वकाल तथा पूर्वावस्था को त्यागकर कालान्तर में अवस्थान्तर को प्राप्त हुई घट नाम से कही जाती है। वस्तुतः घट मृत्तिका से कोई अन्य पदार्थ नहीं, ऐसा ही सब पदार्थों में जानना चाहिये जैसा कि व्यासभाष्य में वर्णन किया है:— "धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्य लक्षणान्तरवस्था, इत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शितः"=पूर्वधर्म के तिरोभावपूर्वक धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होना धर्मी की एक अवस्थाविशेष है। अन्य धर्मों को अनागत लक्षण के त्यागपूर्वक वर्त्तमान लक्षण का लाभ होना भी अवस्थाविशेष ही है, इसलिए धर्मीमात्र में होनेवाला एक ही अवस्था परिणाम अवान्तर भेद से तीन प्रकार का कथन किया है।

सं०–जिस धर्मी के उक्त तीन परिणाम होते हैं अब उसका स्वरूप कथन करते हैं:–

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

पद०—शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती । धर्मी ।

पदा०—(शान्तोदि०) अतीत, वर्त्तमान तथा अनागत धर्मों में अनुगत का नाम (धर्मी) धर्मी है ।

भाष्य—जो धर्म कार्य्य करके उपरान होगये हैं उनका नाम "शान्त" और जो कार्य्य करने में वर्त्तमान हैं उनका नाम "उदित" और जो कारण में सूक्ष्मरूप में स्थित हैं ऐसे अनागत धर्मों का नाम "अव्यपदेश" तथा अनुगत का नाम "अनुपाती" है । अनुगत, अनुस्यूत, अन्वयी, यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं । जिस शब्द का भूत, भविष्यत् वर्त्तमान घटादि धर्मों में अन्वय अर्थात् उक्त धर्म जिसकी अवस्थाविशेष और जो उक्त धर्मों का अन्वयी कारण है उस मृत्तिका का नाम "धर्मी" है ।

भाव यह है कि मृत्तिका में जो पिण्ड, कपाल, घटादि के उत्पन्न करने की योग्यतारूप शक्ति है जिससे घटादिधर्म अनागत से वर्त्तमान और वर्त्तमान से अतीतावस्था को प्राप्त होते रहते हैं उसको "धर्म" और उक्त शक्ति के आश्रय मृत्तिका को "धर्मी" कहते हैं ।

यहां इतना स्मरण रहे कि अनागत के अनन्तर वर्त्तमान और वर्त्तमान के अनन्तर अतीत होता है परन्तु अतीत के अनन्तर वर्त्तमान नहीं होता क्योंकि अनागत तथा वर्त्तमान का ही पूर्व और पश्चात् भाव देखाजाता है अतीत तथा वर्त्तमान का नहीं ।

सं०—अब उक्त परिणामों के नाना भेद होने में हेतु कथन करते हैं:-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

पद०—क्रमान्यत्वं । परिणामान्यत्वे । हेतुः ।

पदा०-(परिणामान्यत्वे) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम के नानाभेद होने में (क्रमान्यत्वं) उनके क्रम का भेद (हेतुः) कारण है।

भाष्य- पूर्वापरीभाव अर्थात् आगे पीछे का नाम "क्रम" और भेद तथा नानापन का नाम "अन्यत्व" है, हेतु, लिङ्ग, कारण, यह सब पर्य्याय शब्द हैं। मृत्तिका से चूर्ण, चूर्ण से पिण्ड, पिण्ड से कपाल, कपाल से घट, इस प्रकार जो मृत्तिका धर्मी के चूर्णादि धर्मपरिणामों का पूर्वापरीभाव है उसको "धर्मपरिणामक्रम" कहते हैं, इसी का भेद धर्मपरिणाम के नाना होने में कारण है अर्थात् जो पूर्वोक्त चूर्णादिक एक मृत्तिका धर्मी के परिणाम हैं उनमें मृत्तिकाचूर्ण का क्रम चूर्णपिण्ड के क्रम से और चूर्णपिण्ड का क्रम पिण्डकपाल के क्रम से अन्य है क्योंकि मृत्तिका से प्रथम चूर्ण और चूर्ण से पिण्ड होता है। इस प्रकार जो घटपर्य्यन्त धर्मों के क्रम का अन्यत्व देखाजाता है वह धर्मपरिणामों के नाना होने के विना नहीं होसकता। इसलिये अनुमान होता है कि धर्मपरिणाम नाना हैं।

जैसे धर्मपरिणामक्रम भिन्न भिन्न हैं वैसे ही लक्षणपरिणामक्रम तथा अवस्थापरिणाम क्रम भी भिन्न भिन्न हैं, धर्मों का अनागतभाव से वर्त्तमानभाव को तथा वर्त्तमानभाव मे अतीतभाव को प्राप्त होना "लक्षणपरिणामक्रम" और वर्त्तमानलक्षण घटपटादि धर्मों का प्रथम नूतनतम से नूतनतर तथा नूतनतर से नूतन और नूतन से पुराण, पुराण से पुराणतर तथा पुराणतर से पुराणतम अवस्था को प्राप्त होना है उसको "अवस्थापरिणामक्रम" कहते हैं, इनमें अनागतभाव से वर्त्तमानभाव की प्राप्ति का क्रम वर्त्तमानभाव से अतीतभाव की प्राप्ति के क्रम से और नूतनतम अवस्था से नूतनतर अवस्था

की प्राप्ति का क्रम नूतनतर अवस्था से नूतन अवस्था की प्राप्ति के क्रम से भिन्न है, इस प्रकार उक्त क्रमों का भेद पाये जाने से अनुमान होता है कि धर्मपरिणाम की भांति लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम भी नाना हैं ।

भाव यह है कि जैसे एक धर्मी में प्रथमधर्म के अनन्तर धर्मान्तर का होना विना क्रम नहीं हो सकता वैसे ही धर्मों को प्रथमकाल से कालान्तर की तथा एक अवस्था से अवस्थान्तर की प्राप्ति भी बिना क्रम नहीं होसकती और वह क्रम नाना हैं, इसलिये उक्त तीनों परिणाम भी नाना हैं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो मृदादिकों तथा चूर्णादिकों का परस्पर धर्मधर्मिभाव दिखलाया है वह कल्पनामात्र है वास्तविक नहीं, क्योंकि चूर्णादिक मृत्तिका ही हैं विकार नहीं और धर्मधर्मिभाव वास्तव में विकार विकारी का ही होता है अन्य का नहीं, इसलिये वास्तव में पृथिव्यादि भूतों का गन्धादि तन्मात्रों के साथ, गन्धादि तन्मात्रों का अहङ्कार के साथ, अहङ्कार का महत्तत्त्व के साथ, और महत्तत्त्व का प्रकृति के साथ ही धर्मधर्मिभाव जानना चाहिये ।

इसका विशेष विवरण सांख्यार्य्यभाष्य में किया है विस्तार के अभिलाषी वहां अवलोकन करें ।

सं०—अब उक्त तीनों परिणामों में संयम करने से होनेवाली विभूति का निरूपण करते हैं:—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।।१६।।

पद०—परिणामत्रयसंयमात् । अतीतानागतज्ञानम् ।

पदा०—(परिणामत्रयसंयमात्) पूर्वोक्त तीनों परिणामों में

संयम करने से (अतीतानागतज्ञानम्) अतीत अनागत पदार्थों के उक्त परिणामों का ज्ञान होता है।

भाष्य—जब योगी वर्त्तमान पदार्थों के मध्य किसी एक पदार्थ के उक्त तीनों परिणामों में संयम करता है तब इसको एक पदार्थ में साक्षात्कार होने से अतीतानागत सम्पूर्ण पदार्थों के परिणामों का साक्षात्कार होजाता है अर्थात् प्रकृति पर्य्यन्त जितने भूतेन्द्रियात्मक पदार्थ हैं वह सब परिणामशील हैं और उनसे भिन्न पुरुष ही एक अपरिणामी कूटस्थ नित्य है, इस प्रकार योगी को जो सम्पूर्ण पदार्थों में उक्त तीनों परिणामों का अपरोक्ष ज्ञान होता है वही परिणामत्रयसंयम की विभूति है।

सं०—अब संयम से होनेवाली दूसरी विभूति का निरूपण करते हैं:—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ७॥

पद०—शब्दार्थप्रत्ययानाम। इतरेतराध्यासात्। सङ्करः। तत्प्रविभागसंयमात्। सर्वभूतरुतज्ञानम्।

पदा० - (शब्दार्थप्रत्ययानां) शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय इन तीनों के (इतरेतराध्यासात्) परस्पर विभाग का ग्रहण न होने से (सङ्करः) अविभक्तरूप से प्रतीति होती है (तत्प्रविभागसंयमात्) उनके विभाग में संयम करने से (सर्वभूतरुतज्ञानं) प्राणिमात्र की भाषा का ज्ञान होजाता है।

भाष्य—गो आदि वाचक शब्दों का नाम "शब्द" और उसके वाच्य व्यक्ति का नाम "अर्थ" अर्थगोचर बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान का नाम "प्रत्यय" और परस्पर विभाग के अग्रहण का नाम "इतरेतरा-

ध्यास" अभेद का नाम "सङ्कर" और भेद का नाम "विभाग" है। शब्द का आश्रय कण्ठ तथा उदात्त, अनुदात्तादि धर्म, अर्थ का आश्रय भूमि तथा जडत्वमूर्त्तत्वादि धर्म और ज्ञान का आश्रय चित्त तथा प्रकाश अमूर्त्तत्वादि धर्म हैं, इस प्रकार आश्रय तथा धर्मों के भिन्न होने से शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय यह तीनों स्वरूप से परस्पर नितान्त विभक्त हैं परन्तु इतरेतराध्यास के कारण सर्वसाधारण को अविभक्त प्रतीत होते हैं अर्थात् भेद के प्रयोजक सम्बन्ध का ग्रहण न होने के कारण एक ही आकार से तीनों का भान होता ।

जब योगी सूक्ष्म दृष्टि से इन तीनों के विभाग को जानकर उस में संयम करता है तब उसके साक्षात्कार होजाने से इसको अपने सजातीय सर्वप्राणियों की भाषा का यथार्थज्ञान उदय होता है।

तात्पर्य्य यह है कि शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय इन तीनों का परस्पर भेद होने पर भी भेद के प्रयोजक वाच्यवाचकभाव तथा विषयविषयिभावरूप सम्बन्ध का ग्रहण न होने से अग्निलोहपिण्ड की भांति सङ्कर प्रतीत होता है जिसके कारण भाषामात्र के शब्दों का श्रवण करने पर भी मनुष्य को अर्थ का ज्ञान नहीं होता, जब योगी किसी एकभाषा के शब्दादि तीनों का उक्त सम्बन्ध संयम द्वारा साक्षात् कर लेता है तब उसको इस प्रकार की अपूर्वप्रज्ञा का लाभ होता है जिससे वह मनुष्यमात्र की भाषामात्र का पूर्णांज्ञाता होजाता है क्योंकि जैसा एक भाषा के शब्दों का अर्थों और अर्थों का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है वैसा ही दूसरी भाषा के शब्दों का अर्थ के साथ और अर्थों का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है और शब्दों के स्वरूप का परस्पर किंचिद् भेद होने पर भी वस्तुतः भेद नहीं

क्योंकि उनकी बनावट सर्वभाषाओं में एक जैसी और अर्थ भी समान है।

निष्कर्ष यह है कि सर्वविद्या का मूल एक वेदमय शब्द है, जो योगी संयम द्वारा वेद के सम्पूर्ण शब्दों, अर्थों, तथा अर्थगोचर प्रत्ययों का धर्म तथा स्वरूप से साक्षात्कार कर लेता है वह सर्व-विद्या का ज्ञाता होजाता है।

सं०—अब संयमसाध्य अन्य विभूति कथन करते हैं:—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

पद०—संस्कारसाक्षात्करणात् । पूर्वजातिज्ञानम् ।

पदा०—(संस्कारसाक्षात्करणात्) संयमद्वारा संस्कारों के साक्षात्कार होने से (पूर्वजातिज्ञानं) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

भाष्य—जिससे स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख, दुःख, उत्पन्न होते हैं उस वासनाविशेष तथा धर्माधर्मरूप अदृष्ट का नाम "संस्कार" है। अर्थात् स्मृति तथा राग द्वेष की जनक चित्त में रहनेवाली वासना और सुख दुःखरूप भोग के जनक धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्म, इन दोनों को संस्कार कहते हैं। जो योगी संयमद्वारा उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है उसको पूर्वजन्म का ज्ञान होजाता है कि मैं पूर्वजन्म में अमुक था, क्योंकि जिन संस्कारों का संयमद्वारा मुझको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है वह इस प्रकार के जन्म के बिना नहीं होसकते, इसलिये निश्चय मेरा पूर्वजन्म अमुक देश में अमुक प्रकार का था।

भाव यह है कि पूर्वजन्म में सम्पादन किये हुये संस्कार वासना तथा धर्माधर्मरूप से दो प्रकार के हैं, जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुये पदार्थों में स्मृति, इच्छा तथा द्वेष उत्पन्न होता है उनको

"वासना" और जिनसे जन्म, आयु तथा भोग की प्राप्ति होती है उनको "धर्माधर्म" कहते हैं। यह दोनों प्रकार के संस्कार जिस जाति के होते हैं उसी के समान पदार्थों की स्मृति तथा प्राप्ति आदि के हेतु होते हैं, यह नियम है। इसलिये संयम द्वारा उक्त संस्कारों के साक्षात्कार होजाने से योगी को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

यहां इतना स्मरण रहे कि जिस प्रकार योगी को संयमद्वारा स्वसंस्कारों के साक्षात्कार से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होजाता है इसी प्रकार संयमद्वारा अन्य पुरुष के संस्कारों का साक्षात्कार हो-जाने से अन्य पुरुष के पूर्वजन्म का भी ज्ञान होजाता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

पद०—प्रत्ययस्य। परचित्तज्ञानम्।

पदा०—(प्रत्ययस्य) संयमद्वारा पर पुरुष की चित्तवृत्ति का साक्षात्कार होने से (परचित्तज्ञानं) पर के चित्त का ज्ञान होता है।

भाष्य—परपुरुष की चित्तवृत्ति का नाम "प्रत्यय" है। जब योगी परपुरुष की चित्तवृत्ति में संयम करने से उसका साक्षात्कार कर लेता है तब इसको आशयसहित पर के चित्त का ज्ञान होजाता है कि इस समय इस पुरुष का चित्त अमुक प्रकार का और अमुक आशयवाला है क्योंकि अमुक प्रकार का हुये बिना इसकी इसप्रकार की वृत्ति कदापि उत्पन्न नहीं होसकती।

भाव यह है कि जिस योगी को संयमद्वारा परपुरुष की चित्त-वृत्ति का साक्षात्कार होता है उसको उसके चित्त का ज्ञान सहज में ही होजाता है क्योंकि जो चित्त में भाव है उसके अनुसार ही

चित्तवृत्तियां उदय होती हैं अर्थात् पदार्थों के रागी पुरुष की पदार्थों को और वीतराग पुरुष की परमात्मा को विषय करनेवाली वृत्तियां उत्पन्न होती हैं जिनसे उनके चित्त का पूर्णरूप से ज्ञान हो-जाता है।

यहां इतना स्मरण रहे कि आधुनिक टीकाकारों ने इस सूत्र के आगे "न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्" इस प्रकार सूत्र की कल्पना करके यह व्याख्या की है कि परपुरुष की चित्तवृत्ति का साक्षात्कार होने पर भी योगी को उसके विषय का ज्ञान नहीं होता क्योंकि संयम केवल चित्तवृत्तिविषयक किया गया है विषयसहित चित्तवृत्तिविषयक नहीं, यह उनकी भूल है क्योंकि वृत्तियां विषय के विना उत्पन्न नहीं होसकतीं, और दूसरे जब योगी को संयमद्वारा वृत्ति का साक्षात्कार होगया तब यह कदापि नहीं हो सकता कि उसको उसके विषय का ज्ञान न हो क्योंकि विषय सहित वृत्ति के साक्षात्कार ही से आशय सहित पर के चित्त का ज्ञान होसकता है इसलिये उक्त सूत्र की कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है और योगभाष्य के वार्तिककर्ता विज्ञानभिक्षु ने भी इस कल्पितसूत्र की व्याख्या भाष्य का पाठ मानकर की है, इससे भी स्पष्ट है कि यह सूत्र नहीं किन्तु आधुनिक टीकाकारों की कल्पना मात्र है।

सं०—अब अन्य विभूति कथन करते हैं :—

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥२०॥

पद०—कायरूपसंयमात् । तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे । चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगे । अन्तर्द्धानम् ।

पदा०—(कायरूपसंयमात्) संयमद्वारा शरीर के रूप की (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) ग्राह्यशक्ति का प्रतिबन्ध होने पर (चक्षुः-प्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्र का सम्बन्ध न होने से (अन्तर्द्धानम्) अन्तर्द्धान की प्राप्ति होती है।

भाष्य—दृष्टिगोचर न होने का नाम **"अन्तर्द्धान"** सम्बन्ध का नाम **"सम्प्रयोग"** और असम्बन्ध का नाम **"असम्प्रयोग"** है। प्रत्यक्ष होने की योग्यता को **"ग्राह्यशक्ति"** और प्रतिबन्ध को **"स्तम्भ"** कहते हैं। जब योगी संयमद्वारा रूप का साक्षात्कार कर लेता है तब उसको उसके परिवर्त्तन के अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है जिससे वह रूप की ग्राह्यशक्ति का स्तम्भ कर देता है और रूप की ग्राह्यशक्ति का स्तम्भ होजाने से अन्य पुरुष के नेत्र का उसके साथ सम्बन्ध नहीं होता और सम्बन्ध न होने से सम्मुख विद्यमान हुआ भी योगी का शरीर नहीं दीखता।

भाव यह है कि रूप में जो ग्राह्यशक्ति है वह संयम के बल से योगी के वश में होजाती है और शक्ति के वश में होजाने से योगी अपने शरीर को उस रूप से दिखाने अथवा न दिखाने में स्वतन्त्र होजाता है अर्थात् जब वह चाहता है कि अमुक पुरुष मुझको न देखे तब वह अपने रूप की ग्राह्यशक्ति का शीघ्र ही प्रतिबन्ध कर लेता है जिससे वह सम्मुख विद्यमान हुआ भी उस रूप से नहीं दीखता और योगी को उस रूप से न देखने से अन्य पुरुष जान लेता है कि अब योगी अपनी इच्छा से अन्तर्द्धान होगया है। यही अन्तर्द्धान रूप संयम की सिद्धि का फल है।

और जो आधुनिक टीकाकार इस सूत्र का यह आशय वर्णन करते हैं कि रूप के संयमद्वारा योगी सर्वथा अपने शरीर को अन्तर्द्धान कर करदेता है यह कदापि नहीं होसकता क्योंकि सूत्र में स्पष्ट

लिखा है कि संयमद्वारा केवल रूप की ग्राह्यशक्ति का प्रतिबन्ध मात्र होता है न कि योगी के शरीर में रूप रहता ही नहीं, यदि सूत्र का आशय रूप का सर्वथा न रहना होता तो अवश्य योगी के शरीर का सर्वथा अन्तर्द्धान होना सङ्गत होसकता, परन्तु जब रूप की ग्राह्यशक्ति का प्रतिवन्ध मात्र होना लिखा है तो इससे स्पष्ट पाया जाता है कि योगी अपने प्रथम रूप की ग्राह्यशक्ति का परिवर्त्तन करके अन्यरूप से सम्मुख स्थित होजाता है इसलिये रूपान्तर से विद्यमान हुआ भी योगी का शरीर प्रथमरूप से अविद्यमान होने के कारण दूसरे को दृष्टिगोचर नहीं होता और दृष्टिगोचर न होने से ही योगी का अन्तर्द्धान होना कहा जाता है यही मानना समीचीन है। और इस सूत्र का भाष्य देखने से भी उक्त आशय ही स्पष्ट होता है, इसलिये इस सूत्र के आधार से योगी के शरीर का सर्वथा अन्तर्द्धान मानना ठीक नहीं।

यहां इतना स्मरण रहे कि जिस प्रकार रूप में संयम करने से योगी को रूप की ग्राह्यशक्ति के स्तम्भन करने का सामर्थ्य होजाता है इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्ध में संयम करने से शब्दादिकों की ग्राह्यशक्ति स्तम्भन करने का सामर्थ्य भी योगी को प्राप्त होजाता है जिसके कारण योगी के शब्दादिकों को कोई श्रोत्रादि से ग्रहण नहीं कर सकता, इसका भी यही भाव है कि संयम के बल से योगी को शब्दादिकों के परिवर्त्तन का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, सामर्थ्य के प्राप्त होजाने से जैसा वह चाहता है वैसा ही अपने शब्दादिकों को कर सकता है। अतएव जब वह अपने शब्दादिकों का परिवर्त्तन कर देता है तब श्रोत्रादिकों के द्वारा पूर्ववत् शब्दादिकों के ग्रहण न होने से योगी के शब्दादि का अन्तर्द्धान कहा जाता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा ॥२१॥

पद०—सोपक्रमं । निरुपक्रमं । च । कर्म । तत्संयमात् । अप-रान्तज्ञानं । अरिष्टेभ्यः । वा ।

पदा०—(सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म) सोमक्रम, निरुपक्रम भेद से कर्म दो प्रकार के हैं (तत्संयमात्) उनमें संयम करने (वा) और (अरिष्टेभ्यः) अरिष्टों के देखने से (अपरान्तज्ञानं) मृत्यु का ज्ञान होता है ।

भाष्य—यहां प्रारब्ध कर्मों का नाम "कर्म" फल देने के लिये उनके तीव्र व्यापार का नाम "उपक्रम" उक्त व्यापार द्वारा जिस प्रारब्ध कर्म का फल अल्प शेष है उसका नाम "सोपक्रम" इससे विपरीत का नाम "निरुपक्रम" और मरण के सूचक चिह्नों का नाम "अरिष्ट" है । जब योगी को संयम द्वारा उक्त दोनों प्रकार के कर्मों तथा अरिष्टों का साक्षात्कार होता है तब इसको अपने मरणकाल का ज्ञान होजाता है कि इतने काल में मेरा देहान्त हो-जाएगा ।

भाव यह है कि सोपक्रम और निरुपक्रम भेद से कर्म दो प्रकार के हैं जो योगी दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करता है उसको इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है कि जिन पुरुषों के प्रारब्ध-कर्मों का फल अल्प शेष किंवा बहु शेष होता है उनके शरीर की अवस्था प्रायः इसी प्रकार की हुआ करती है जैसी कि अब मेरी है, इसलिये मेरे प्रारब्धकर्म का फल अब समाप्त होनेवाला है अथवा अभी बहुत शेष है । इस प्रकार का ज्ञान होजाने से योगी को सहज

में ही अपने मरणकाल का ज्ञान होजाता है और अरिष्टों के देखने से और भी निश्चय होजाता है कि अब मेरे शरीरपात में इतने क ल का विलम्ब है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक भेद से अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं, कानों को अंगुलियों तथा हस्त द्वारा बन्द करने से भीतर की ध्वनि को न सुनने तथा नेत्रों के निमीलन से अग्निकण समान भीतर ज्योति के प्रतीत न होने को "आध्यात्मिक" अकस्मात् प्रकृति तथा अन्न, जल, रस के विपर्य्यय होजाने का नाम "आधिभौतिक" और अकस्मात् नेत्रों के घूम जाने से द्यु लोक के विपरीत दीख पड़ने को "आधिदैविक" कहते हैं। इन तीन प्रकार के अरिष्टों का दर्शन प्रायः मृत्यु के समीपकाल में ही हुआ करता है, इसलिये संयम द्वारा प्रारब्ध कर्म के ज्ञान तथा अरिष्टों के देखने से योगी को अपने मरणसमय का ज्ञान होजाता है यही ज्ञान उक्त संयम की विभूति है।

यहां इतना स्मरण रहे कि उक्त अरिष्टों के देखने से साधारण मनुष्य को भी मृत्यु का ज्ञान होसकता है परन्तु उसको निश्चय ज्ञान नहीं होता और योगी को निश्चयात्मक ज्ञान होता है यह विशेष है।

सं०—अब और विभूति कहते हैं —

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२२॥

पद०—मैत्र्यादिषु। बलानि।

पदा०—(मैत्र्यादिषु) मैत्री, करुणा, मुदिता इन तीनों भावनाओं में संयम करने से (बलानि) मैत्री आदि बल की प्राप्ति होती है।

भाष्य—सुखी प्राणियों में मैत्रीभावना, दुःखी प्राणियों में करुणाभावना और पुण्यात्मा पुरुषों में मुदिताभावना का विधान प्रथमपाद में कर आये हैं, जो योगी इन तीनों भावनाओं में संयम करता है उसको इनके अनन्त गुणों का पूर्ण रूप से ज्ञान होजाता है जिससे वह प्रतिक्षण मैत्री आदि के अनुष्ठान में तत्पर होकर अल्पकाल में ही मैत्री आदि के बल को प्राप्त कर लेता है।

भाव यह है कि मैत्री भावना का संयमरूप दृढ़ अभ्यास करने से शीघ्र ही योगी को इस प्रकार के मैत्री बल की प्राप्ति होजाती है कि जिसके प्रभाव से प्राणिमात्र उसका और वह प्राणिमात्र का मित्र होजाता है और उसकी मित्रता सर्वदा के लिये अचल होजाती है, इसी प्रकार जब करुणाभावना का अभ्यास करता है अर्थात् स्वार्थ छोड़कर दुःखीमात्र के दुःख निवृत्त करने की इच्छा रखता है तब उसके अनन्त सहायक होजाते हैं और उनके होने से करुणाबल सहज में ही प्राप्त होजाता है और उसके प्राप्त होने से दुःखी पुरुषों के दुःख की निवृत्ति के लिये किया हुआ प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता। इसी प्रकार मुदिताभावना के संयम करने से अमोघ मुदिताबल की प्राप्ति होती है जिससे योगी खिन्नचित्त पुरुषों को भी आनन्दित कर देता है।

यहां इतना स्मरण रहे कि उपेक्षारूप चित्तवृत्ति का आदि पद से ग्रहण इसलिये नहीं किया गया कि वह त्यागरूप है भावना रूप नहीं।

सं०—अब और विभूति कहते हैं:—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२३॥

पद०—बलेषु । हस्तिबलादीनि ।

पदा०—(बलेषु) बलों में संयम करने से (हस्तिबलादीनि) हस्ति आदि के बल के समान बल की प्राप्ति होती है।

भाष्य—जब योगी हस्ति आदि के बलों में संयम करता है तब उसको बल के स्वरूप का पूर्णरीति से ज्ञान होजाता है कि अमुक प्रकार के ब्रह्मचर्य्य तथा आहार, विहार, व्यायाम आदि से हस्ति के बल के समान बल की प्राप्ति होती है, इस प्रकार संयम करने से प्रतिदिन बल की वृद्धि तथा यत्न करता हुआ योगी अल्पकाल में ही हस्ति आदि के समान बल को प्राप्त होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मचर्य्यपूर्वक संयम करने से योगी को ऐसे बल की प्राप्ति होती है जिसको हस्तिबल, सिंहबल आदि कहा जाए तो कुछ अनन्वित नहीं अर्थात् ब्रह्मचर्य्यपूर्वक संयम करने से योगी का मानस तथा शारीरिक बल इतना बढ़ जाता है जिससे वह हस्ति आदि को भी तुच्छ समझता है।

सं०—अब अन्य विभूति कथन करते हैं:—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ।।२४।।

पद०—प्रवृत्त्यालोकन्यासात् । सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।

पदा०—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) संयमद्वारा प्रवृत्त्यालोक के न्यास से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान होता है।

भाष्य—ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का नाम "प्रवृत्ति" और उसके सात्त्विक प्रकाश का नाम "आलोक" तथा संयमद्वारा पदार्थों में उसके सम्बन्ध का नाम "न्यास" है। जब योगी संयमद्वारा उक्त

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरदेशवर्त्तिपदार्थों में न्यास करता है तब उसको उक्त पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान हो-जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि योगी को जिस प्रथमपादोक्त ज्योतिष्मती नामक मन की सूक्ष्म प्रवृत्ति का लाभ हुआ है, वह सूर्य्य की भांति नितान्त प्रकाशस्वरूप तथा अप्रतिबद्ध वेगवाली है उसका जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध किया जाय वह उसको प्रत्यक्ष दिखाला देती है, इसलिये संयमद्वारा जिस जिस सूक्ष्म व्यवधानवाले तथा दूर-वर्ती पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध होता है योगी को उस उस पदार्थ का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

सं०—अब और विभूति कहते हैं:—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥२५॥

पद०—भुवनज्ञानं। सूर्य्ये। संयमात्।

पदा०—(सूर्य्ये) सूर्य्यमण्डल में (संयमात्) संयम करने से (भुवनज्ञानं) भुवन का ज्ञान होता है।

भाष्य—भूलोक, अन्तरिक्षलोक, द्युलोक, इन तीनों लोकों का नाम "भुवन" है। जब योगी सूर्य्यमण्डल में संयम करता है तब उसको सूर्य्यमण्डल का यथार्थ बोध होजाने से त्रिलोकी का अपरोक्ष-ज्ञान होजाता है।

तात्पर्य्य यह कि त्रिलोकी में सूर्य्यमण्डल ही सब मण्डलों का अधिपति है इसी के सहारे सम्पूर्णमण्डल प्राणन क्रिया कर रहे हैं और इसी के प्रकाश से मनुष्यमात्र का जीवन है, जो योगी इस प्रकार संयम द्वारा सूर्य्यमण्डल का साक्षात्कार कर लेता है उसको सब मण्डलों की गति, स्थिति तथा प्रलय और सात्विक, राजस

तथा तामस सृष्टि का पूर्ण ज्ञान होजाता है, इसी का नाम "भुवन-ज्ञान" है।

सं०—अब अन्य विभूति कहते हैं:—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२६॥

पद०—चन्द्रे। ताराव्यूहज्ञानम्।

पदा०—(चन्द्रे) चन्द्रलोक में संयम करने से (ताराव्यूहज्ञानं) तारों के व्यूह का ज्ञान होता है।

भाष्य—अवयवों के परस्पर सम्बन्ध विशेष का नाम "व्यूह" है, जब योगी चन्द्रमण्डल में संयम करता है तब उसको उक्तमण्डल का यथार्थरूप से साक्षात्कार होता है, उसके साक्षात्कार होजाने से जिस जिस स्थान में तथा जिस जिस प्रकार के अवयवों द्वारा तारों की बनावट है उसका योगी को पूर्ण रूप से ज्ञान होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि चन्द्रमा में संयम करने से अमुकतारा अमुक स्थान तथा अमुक प्रकार के अवयवों से उसकी रचना है इस प्रकार सम्पूर्ण तारों के व्यूह का ज्ञान योगी को होजाता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२७॥

पद०—ध्रुवे। तद्गतिज्ञानम्।

पदा०—(ध्रुवे) ध्रुव नामक तारे में संयम करने से (तद्गति-ज्ञानं) तारों की गति का ज्ञान होता है।

भाष्य—निश्चल ताराविशेष का नाम "ध्रुव" है। जब योगी संयम द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है तब उसको सम्पूर्णतारों की चाल का ज्ञान होजाता है।

भाव यह है कि सम्पूर्ण तारे अपनी अपनी गति से भ्रमण कर रहे हैं परन्तु स्थूलदृष्टि से साधारण मनुष्यों को उनकी गति का ज्ञान नहीं होता, इसलिये जो योगी सम्पूर्ण तारों के मध्यवर्त्ती ध्रुव नामक निश्चल तारे में संयम करता है उसको उसकी निश्चलता प्रत्यक्ष होजाने से सम्पूर्णतारों की गति का ज्ञान होजाता है।

सं०—अब अन्य विभूति का कथन करते हैं:-

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२८

पद०—(नाभिचक्रे) नाभिचक्र में संयम करने से (कायव्यूह-ज्ञानं) शरीरवर्त्ती सम्पूर्ण पदार्थों के परस्पर सम्बन्धविशेष का ज्ञान होजाता है।

भाष्य-जिन पदार्थों के सम्बन्धविशेष से शरीर की रचना हुई है उनका मूलस्थान नाभिचक्र है, इसलिये जब योगी संयमद्वारा उक्त चक्र का साक्षात्कार कर लेता है तव उसको शरीरवर्त्ती सम्पूर्ण पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध तथा उसके निवासस्थान का अपरोक्ष-ज्ञान होजाता है।

भाव यह है कि शरीर में वात, पित्त, कफ, यह तीन दोष तथा त्वक्, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र, यह सात धातु हैं और इनमें शुक्र सबसे आभ्यन्तर और शुक्र से वाहर मज्जा, मज्जा से अस्थि, अस्थि से स्नायु, स्नायु से मांस, मांस से रक्त तथा रक्त से वाहर त्वक् है। इस प्रकार शरीरगत पदार्थों के सम्बन्ध विशेष का ज्ञान योगी को नाभिचक्र में संयम करने से प्राप्त होता है।

सं०-अब और विभूति कथन कहते हैं:-

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥२९॥

पद०—कण्ठकूपे । क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।

पदा०—(कण्ठकूपे) कण्ठकूप में संयम करने से (क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः) भूख प्यास की निवृत्ति होती है ।

भाष्य—जिह्वा के नीचे कूपाकार नाडी विशेष का नाम **"कण्ठ-कूप"** है । जब योगी कण्ठकूप का संयमद्वारा साक्षात्कार कर लेता है तब उसको भूख प्यास की निवृत्ति होजाती है ।

भाव यह है कि मनुष्य के मुख में जो थूक तथा लार उत्पन्न होती है उसका स्थान कण्ठकूप है, उसके साथ प्राणवायु का स्पर्श होने से भूख प्यास लगती है, अतएव जो योगी संयमद्वारा प्राण वायु के स्पर्श को निवृत्तकर उक्त कण्ठकूप में चित्तवृत्ति को एकतान कर देता है तब उसको भूख प्यास की बाधा नहीं होती ।

सं०—अब अन्य विभूति कथन करते हैं:—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३०॥

पद०—कूर्मनाड्यां । स्थैर्यम् ।

पदा०—(कूर्मनाड्यां) कूर्मनाडी में संयम करने से (स्थैर्यम्) स्थिरता की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—छाती में होनेवाली कूर्माकार नाडी का नाम **"कूर्म-नाडी"** है । जब योगी संयमद्वारा उसका प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसको चित्तस्थैर्य्य तथा कायस्थैर्य्य की प्राप्ति होती है ।

भाव यह है कि कूर्मनाडी अपने विन्यास की विचित्रता से चित्त को शीघ्र पकड़लेती है, यदि उसी के अनुसार भूमि आदि पर शरीर का विन्यास कियाजाय तो शरीर भी गोह की भांति स्थिर होजाता है । अतएव जो योगी संयमद्वारा उक्तनाडी का स्वरूप साक्षात्कार कर लेता है उसको चित्त तथा कायस्थैर्य्य का लाभ होता है ।

सं०—अब और विभूति कहते हैं:—

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३१॥

पद०—मूर्द्धज्योतिषि । सिद्धदर्शनम् ।

पदा०—(मूर्द्धज्योतिषि) मूर्द्धज्योति में संयम करने से (सिद्ध-दर्शनं) सिद्धों का दर्शन होता है ।

भाष्य—सिर के दोनों कपालों के मध्य ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र है उस छिद्र के भीतर रहनेवाली प्रकाशमय ज्योति का नाम "मूर्द्ध-ज्योति" और जिन पुरुषों को योग सिद्ध होगया है उनका नाम "सिद्ध" है । जब योगी संयमद्वारा मूर्द्धज्योति का साक्षात्कार कर लेता है तब उसको योगसिद्धों का दर्शन होता है ।

भाव यह है कि जिस योगी ने संयमद्वारा मूर्द्धज्योति का साक्षात्कार कर लिया है वह योगियों में प्रतिष्ठित समझा जाता है और योगी लोग उसके पास आने में सङ्कोच नहीं करते , इसीलिये कहा है कि मूर्द्धज्योति के संयमी योगी को घर बैठे ही सिद्धों का दर्शन होता है ।

सं०—अब पूर्वोक्त सर्वविभूतियों की प्राप्ति का अन्य उपाय कथन करते हैं:—

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३२॥

पद०—प्रातिभात् । वा । सर्वम् ।

पदा०—(वा) अथवा (प्रातिभात्) प्रातिभ के प्राप्त होने पर (सर्वम्) पूर्वोक्त सम्पूर्ण विभूतियां प्राप्त होती हैं ।

भाष्य—विवेकज्ञान के कारणभूत संयम के दृढ़ अभ्यास द्वारा जो चित्त में विवेकज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व अतीत, अनागत, सूक्ष्म,

व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के ज्ञान का सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसी का नाम "प्रातिभ" है। इस प्रातिभ नामक मानस सामर्थ्य की प्राप्ति से योगी को पूर्वोक्त सम्पूर्ण विभूतियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् जिस प्रकार सूर्य्य उदय का चिह्न प्रभा है इसी प्रकार विवेकज्ञान के उदय का चिह्न प्रातिभ है। जिस योगी को विवेकज्ञान के साधन स्वार्थप्रत्यय में संयम करने से उक्त सामर्थ्य का लाभ होजाता है उसके लिये पूर्वोक्त संयमों की कोई आवश्यकता नहीं, उसको इसी बल से पूर्वोक्त सम्पूर्ण विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जन्म मरणरूप संसार में दुःखनिवृत्ति का उपाय होने से एकमात्र विवेकज्ञान ही सम्पूर्ण विभूतियों का सार है। जब योगी को संयम के प्रभाव से विवकज्ञान उदय के चित्त-प्रसाद आदि चिह्नों का लाभ होता है तव उसको निश्चय होजाता है कि अब अवश्यमेव मेरी चित्तगुफा में विवेकज्ञारूपी सूर्य्य का उदय होगा, इस प्रकार के निश्चय से कृतकृत्य हुआ योगी सम्पूर्ण विभूतियों को प्राप्त हुआ मानता है अर्थात् कोई ऐसी विभूति नहीं जो उसको उस समय प्राप्त नहीं होती।

सं०—अब और विभूति कथन कहते हैं:-

हृदये चित्तसंवित् ॥३३।

पद०–हृदये। चित्तसंवित्।

पदा०–(हृदये) हृदय में संयम करने से (चित्तसंवित्) चित्त का ज्ञान होता है।

भाष्य–चित्त के निवास स्थान कमलाकार मांसपिण्ड का नाम "हृदय" है। जो योगी हृदय में संयम करता है उसको चित्त का

साक्षात्कार होता है।

भाव यह है कि स्थान के साक्षात्कार से स्थानी का साक्षात्कार होता है यह नियम है, चित्त का निवास स्थान हृदय है, इसलिए संयमद्वारा हृदय के साक्षात्कार होजाने से योगी के चित्त का साक्षात्कार होता है।

सं०—अब चित्त ज्ञान के अनन्तर पुरुष ज्ञान का उपाय कथन करते हैं:—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥३४॥

पद०—सत्त्वपुरुषयोः। अत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषः। भोगः। परार्थात्। स्वार्थसंयमात्। पुरुषज्ञानम्।

पदा०—(अत्यन्तासङ्कीर्णयोः) परस्पर अत्यन्तभिन्न (सत्त्वपुरुषयोः) बुद्धि तथा पुरुष के (प्रत्ययाविशेषः) प्रत्ययों की अभेद प्रतीति का नाम (भोगः) भोग है और (परार्थात्) इस भोगरूप दोनों प्रत्ययों के मध्य बुद्धि प्रत्यय से भिन्न (स्वार्थसंयमात्) पौरुषेय प्रत्यय में संयम करने से (पुरुषज्ञानं) पुरुष का ज्ञान होता है।

भाष्य—बुद्धि को **"सत्त्व"** और जीवात्मा को **'पुरुष"** कहते हैं। तिस तिस विषय के आकार को प्राप्त हुई शांत, घोर तथा मूढ़रूप बुद्धि की वृत्ति का नाम **"बुद्धिप्रत्यय"** और बुद्धिवृत्ति के साक्षी चिन्मात्र पुरुष को आलम्बन करनेवाली बुद्धिवृत्ति का नाम **"पुरुषप्रत्यय"** है, बुद्धिप्रत्यय तथा पौरुषेयप्रत्यय की अभेद रूप से प्रतीति का नाम **"भोग"** और बुद्धिप्रत्यय से भिन्न केवल पौरुषेय प्रत्यय का नाम **"स्वार्थप्रत्यय"** है। जब योगी इस स्वार्थप्रत्यय में संयम करता है तब उसको अपने आत्मा पुरुष का साक्षात्कार

होता है ।

सं०—अब उक्त स्वार्थ संयम का फल कथन करते हैं:—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते ॥३५॥

पद०—ततः । प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ताः । जायन्ते ।

पदा०–(ततः) उक्त संयमद्वारा पुरुषज्ञान से पूर्व (प्रातिभश्रा०) प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता यह छः विभूतियां (जायन्ते) प्राप्त होती हैं ।

भाष्य—सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों को साक्षात् करानेवाले मन के सामर्थ्य का नाम "प्रातिभ" दिव्य शब्दों को साक्षात् करानेवाले श्रोत्र इन्द्रिय के सामर्थ्य का नाम "श्रावण" तथा दिव्य स्पर्श को साक्षात् करानेवाले त्वक् इन्द्रिय के सामर्थ्य का नाम "वेदना" दिव्यरूप का साक्षात् करानेवाले चक्षु इन्द्रिय के सामर्थ्य का नाम "आदर्श" दिव्यरस को साक्षात् करानेवाले रसना इन्द्रिय के सामर्थ्य का नाम "आस्वाद" और दिव्यगन्ध को साक्षात् करानेवाले घ्राण इन्द्रिय के सामर्थ्य का नाम "वार्त्ता" है । जो योगी स्वार्थसंयमरूप अभ्यास करता है उसको पुरुषज्ञान से प्रथम मन आदि छः इन्द्रियों के अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है जिसके योगशास्त्र की परिभाषा में यथाक्रम प्रतिभादि नाम हैं ।

सं०–अब उक्त षट् विभूतियों को पुरुषज्ञान की प्राप्ति में विघ्न कथन करते हैं:—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३६॥

पद०—ते । समाधौ । उपसर्गाः । व्युत्थाने । सिद्धयः ।

पदा०—(ते) उक्त प्रातिभादि सिद्धियां (समाधौ) समाधि में (उपसर्गाः) विघ्न हैं, और (व्युत्थाने) व्युत्थानकाल में (सिद्धयः) सिद्धियां हैं।

भाष्य—स्वार्थ संयम का नाम "समाधि" तथा विघ्न का नाम "उपसर्ग" है, उक्त स्वार्थ संयमरूपसमाधिद्वारा जो योगी को पुरुष-ज्ञान से प्रथम प्रातिभादिक षट् विभूतियां प्राप्त होती हैं वह विक्षिप्त चित्त के लिये ही ऐश्वर्य्य हैं समाहित चित्त के लिये नहीं, क्योंकि उसको वह पुरुष के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक हैं, इसलिये स्वार्थ-संयम में प्रवृत्त हुआ योगी इनकी प्राप्ति से अपने को कृतकृत्य न मानले किन्तु इनसे दोषदृष्टि द्वारा उपराम होकर पुरुष साक्षात्कार के लिये स्वार्थसंयम का अभ्यास करे।

सं०—पुरुष साक्षात्कार पर्य्यन्त ज्ञानात्मक विभूतियों का कथन करके अब क्रियारूप विभूतियों का निरूपण करते हैं:—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य पर-शरीरावेशः ॥३७॥

पद०—बन्धकारणशैथिल्यात्। प्रचारसंवेदनात्। च। चित्तस्य। परशरीरावेशः।

पदा०—(बन्धकारणशैथिल्यात्) संयमद्वारा शरीर में चित्त बन्धन के कारण धर्माधर्मरूप प्रारब्धकर्म की शिथिलता से (च) और (प्रचारसंवेदनात्) नाडियों का ज्ञान होजाने से (चित्तस्य) चित्त का (परशरीरावेशः) दूसरे शरीर में प्रवेश होता है।

भाष्य—शरीर के भीतर मन के सम्बन्ध विशेष को "बन्ध" धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्म को "बन्धकारण" और बन्धन करने

में सामर्थ्याभाव को "**बन्धकारणशैथिल्य**" कहते हैं। "**प्रचरति अनेन अस्मिन् वा इति प्रचारः**"=मन के बाहर भीतर जाने आने का मार्गरूप जो नाडियां हैं उनका नाम "**प्रचार**" और उनके अपरोक्ष ज्ञान का नाम "**प्रचारसंवेदन**" है। जिस योगी को संयमद्वारा बन्धकारण की शिथिलता प्राप्त होती है और प्रचार का अपरोक्षज्ञान होता है उसके चित्त का दूसरे शरीर में अनायास ही प्रवेश होजाता है।

भाव यह है कि आत्मा कूटस्थनित्य होने के कारण निष्क्रिय है, उसका जो एक शरीर से दूसरे शरीर में आना जाना होता है वह चित्त के सम्बन्ध से होता है स्वतन्त्र नहीं, और चित्त की जो शरीर में ज्ञान का हेतु स्थिति है वह धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्म के अधीन है, इसलिये जब योगी संयमद्वारा शरीर में चित्त की स्थिति के हेतु धर्माधर्मरूप सम्बन्ध को शिथिल कर देता है और चित्त के प्रचार से पूर्ण परिचित होजाता है तब एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करने के समय उक्त बन्धन प्रतिबन्धक नहीं होते और प्रचार का ज्ञान होजाने से योगी यथाकाम अपने चित्त के द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होजाता है।

निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा पुरुष की जो इस शरीर में स्थिति है वह प्रारब्ध कर्म के अधीन है, जब तक प्रारब्ध कर्म प्रबल होकर भोग दे रहे हैं तब तक जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता और जीवात्मा पुरुष का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश भी चित्त प्रवेश के अधीन है और चित्त का एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होना मार्गभूत नाड़ियों के विना ज्ञान नहीं होसकता, इसलिये जिस योगी ने संयमद्वारा धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्मों को बन्धन करने में असमर्थ कर दिया है और चित्त

प्रचार की नाडियों से भले प्रकार विज्ञ होगया है उसको वर्त्तमान शरीर के परित्यागपूर्वक दूसरे नूतन शरीर में प्रवेश करते समय कोई क्लेश नहां होता अर्थात् वह निर्विघ्नतापूर्वक यथाकाम एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है परन्तु उसका प्रवेश स्वच्छन्दता तथा निर्विघ्नतापूर्वक नहीं होता और योगी का इसके विपरीत स्वच्छन्दता तथा निर्विघ्नपूर्वक होता है यह विशेषता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:—

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३८॥

पद०—उदानजयात्। जलपङ्ककण्टकादिषु। असङ्गः। उत्क्रान्तिः। च।

पदा०—(उदानजयात्) उदान के जय होजाने से (जलपङ्ककण्टकादिषु) जल, पङ्क, तथा कण्टकादि के साथ (असङ्ग) सङ्ग नहीं होता (च) और (उत्क्रान्तिः) उर्ध्वगमन होता है।

भाष्य—पांच प्राणों के मध्य एक प्राण विशेष का नाम "**उदान**' उदान के वश होजाने का नाम '**जय**" और ऊर्ध्वगति का नाम "**उत्क्रान्ति**" है। जब योगी सयमद्वारा उदान नामक प्राण को वश में कर लेता है तब उसको अपने शरीर तथा आत्मा की ऊर्ध्वगति का सामर्थ्य होजाता है जिससे वह जल पङ्क तथा कण्टकादिकों में सञ्चार करता हुआ किसी बाधा को प्राप्त नहीं होता और मरण समय ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि योग सिद्धान्त में समस्त इन्द्रियों की जीवन नामकवृत्ति का नाम '**प्राण**" है और वह प्राण, समान, अपान

उदान , व्यान , इस क्रिया भेद से पांच प्रकार का है। जिसकी नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदयपर्य्यंन्त स्थिति और नासिका तथा मुखद्वारा जिसकी गति आगति होती है उसको "प्राण" जो खाये पिये अन्नादि के परिणामरूप रस को यथास्थान समानरूप से पहुंचाता और हृदय से लेकर नाभिपर्य्यन्त जिसकी स्थिति है उसको "समान" और जो मलमूत्र तथा गर्भादि को बाहर निकालता तथा नाभि से लेकर पादतल पर्य्यन्त जिसकी स्थिति है उसको "अपान" जो शरीर, आकाश तथा अन्नादि की ऊर्ध्वगति का हेतु और नासिका के अग्रभाग से लेकर शिर पर्य्यन्त जिसकी स्थिति है उसको "उदान" और जो शरीर शोथ का हेतु तथा सर्वशरीर में व्याप्त है उसको "व्यान" कहते हैं। जिस योगी ने उक्त पांचों प्राणों के मध्य उदान नामक प्राण का विजय करलिया है वह जल पङ्क तथा कण्टकादि के ऊपर निःशंक गमन कर सकता हैं , गमन करते समय उनके साथ उसको बाधा देनेवाला सङ्ग भी नहीं होता क्योंकि उदानवायु के वल से शरीर तथा आत्मा की ऊर्ध्वगति का सामर्थ्य उसको प्राप्त है, जिस प्रकार जलादिकों के ऊपर गमन करने में उदानजयी योगी स्वतन्त्र है इसी प्रकार आत्मा की ऊर्ध्वगति में भी स्वतन्त्र होजाता है , इसलिये उसको मरण समय में यथाकाम ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है।

सं०—अव और विभूति कहते हैं:—

समानजयाज्ज्वलनम् ॥३९॥

पद०—समानजयात् । ज्वलनम् ।

पदा०—(समानजयात्) समान के जय होजाने से (ज्वलनम्) तेज की प्राप्ति होती है।

भाष्य—जिस योगी ने संयमद्वारा समान नामक प्राण को जीत लिया है उसका अग्नि के समान तेज होता है।

सं०—अब अन्य विभूति कथन करते हैं:—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४०॥

पद०—श्रोत्राकाशयोः। सम्बन्धसंयमात्। दिव्यं। श्रोत्रम्।

पदा०—(श्रोत्राकाशयोः) श्रोत्र इन्द्रिय तथा आकाश के (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (श्रोत्रं) श्रोत्र इन्द्रिय (दिव्यं) अलौकिक सामर्थ्यवाला होजाता है।

भाष्य—शब्द के ग्राहक इन्द्रिय का नाम "श्रोत्र" और व्योम का नाम "आकाश" है। इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को श्रोत्र इन्द्रिय के ऐसे अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है कि जिससे वह अतिसूक्ष्म शब्दों को भी सुन लेता है।

भाव यह है कि स्थूल सूक्ष्म जितने शब्द उत्पन्न होते हैं उन सब का आधार आकाश है और उस आकाश का श्रोत्र इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध है, जब योगी उस सम्बन्ध में संयम करता है तब वह संयम के प्रभाव से अतिविस्तृत तथा आकाश के समान सूक्ष्म होजाता है और उसके विस्तृत तथा सूक्ष्म होने से सम्पूर्ण शब्दों का श्रवण सहज में ही होजाता है।

यहां इतना स्मरण रहे कि जैसे श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति होती है वैसे ही त्वचा और वायु, चक्षु और तेज, रसना और जल, घ्राण और पृथिवी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण इन्द्रियों की भी प्राप्ति होती है।

सं०–अब अन्य वभूति कथन करते हैं:—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते-श्चाकाशगमनम् ॥४१॥

पदा०–कायाकाशयोः। सम्बन्धसंयमात्। लघुतूलसमापत्तेः। च। आकाशगमनम्।

पदा०—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाश के (सम्बन्ध-संयमात्) सम्वन्ध में संयम करने से (च) और (लघुतूलसमापत्तेः) तूल के समान लघु पदार्थों में संयम करने से (आकाशगमनं) आकाशगमन की प्राप्ति होती है।

भाष्य—पांचभौतिक शरीर का नाम "काय" है। जब योगी काय और आकाश के सम्वन्ध में संयम करता है तब वह उसके वश में होजाता है और सम्बन्ध को वश में करलेने से लघुपदार्थों में संयमद्वारा शीघ्र ही शरीर के लघुभाव को प्राप्त होजाता है उसके प्राप्त होने से योगी का स्वतन्त्रतापूर्वक आकाश में गमन होता है।

भाव यह है कि जिस जिस स्थान में शरीर की स्थिति होती है वहां सर्वत्र आकाश भी विद्यमान है क्योंकि आकाश के बिना शरीर की स्थिति नहीं होसकती और अवकाश देना आकाश का धर्म है, इस प्रकार आकाश के साथ जो शरीर का व्याप्यव्यापक-भाव सम्बन्ध है उसको जव योगी संयमद्वारा जीत लेता है और लघुपदार्थों में संयम करने से लघु होने की शक्ति का सम्पादन करके लघुकाय होजाता है तब उसको यथेष्ट आकाशगमन का लाभ होता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:-

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरण-क्षयः ॥४२॥

पद०—बहिः । अकल्पितावृत्तिः । महाविदेहा । ततः । प्रकाशावरणक्षयः ।

पदा०—(बहिः) शरीर के बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा में (अकल्पितावृत्तिः) विना सङ्कल्प के स्थित हुई चित्तवृत्ति का नाम (महाविदेहा) महाविदेहा धारणा है (ततः) इस धारणा की प्राप्ति से (प्रकाशावरणक्षयः) बुद्धि के आच्छादक क्लेशादिकों का क्षय होजाता है ।

भाष्य—मेरा मन ईश्वर में स्थित हो, इस प्रकार के संकल्प द्वारा ईश्वर में स्थित हुई चित्तवृत्ति का नाम '**कल्पितविदेहाधारणा**" और इसके विपरीत धारणा का नाम "**महाविदेहा**" है, बुद्धि का नाम "**प्रकाश**" और उसके आच्छादक रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता से होनेवाले क्लेश कर्म तथा विपाकत्रय का नाम '**आवरण**" और उसकी निवृत्ति का नाम "**क्षय**" है । जब योगी को संयम रूप अभ्यास की दृढ़ता से महाविदेहा धारणा की प्राप्ति होती है तब सत्त्वगुण की अधिकता के कारण रजोगुण तथा तमोगुण के अत्यन्त दब जाने से तन्मूलक क्लेशादिकों का सर्वथा क्षय होजाता है और उनके क्षय होजाने से निवारण हुये बुद्धिरूप प्रकाश द्वारा योगी परमात्मानन्द का अनुभव करता है ।

भाव यह है कि चित्त अत्यन्त मलिन होने के कारण ईश्वर में स्थिर नहीं होसकता, जब योगी यम नियमादिकों के अभ्यास से चित्त की निर्मलता का सम्पादन करता है तब उक्त सङ्कल्पद्वारा ईश्वर में चित्तवृत्ति स्थिर होती जाती है जिसका नाम विदेहा-

धारणा है इसी के पुनः पुनः अभ्यास से जब महाविदेहाधारणा की प्राप्ति होती है तब इसको ईश्वर के प्रसाद से शीघ्र ही क्लेशादिकों के क्षयपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति होती है।

और जो आधुनिक टीकाकारों ने "बहिः" शब्द का अर्थ बहिर्देश करके उसमें बिना सङ्कल्प चित्त की वृत्ति का नाम महाविदेहाधारणा कथन किया है यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी महाविदेहाधारणा से प्रकाशावरणक्षयरूप फल की प्राप्ति नहीं होसकती और जो सूत्रकार ने महाविदेहाधारणा से प्रकाशावरण का क्षय होना लिखा है इससे स्पष्ट पाया जाता है कि सूत्रकार को यहां बहिः शब्द से बहिर्देश अभिप्रेत नहीं किन्तु ईश्वर ही अभिप्रेत है और ईश्वर में बिना सङ्कल्प चित्तवृत्ति की स्थिरतारूप महाविदेहाधारणा से उक्त फल की प्राप्ति होसकती है जैसा किः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुण्ड० २।२।८

इस उपनिषद्वाक्य में कहा है कि परमात्मा के साक्षात्कार होने से अविद्यादि क्लेश, संयम तथा कर्म क्षीण होजाते हैं।

और दूसरे "बहिः" शब्द को अन्तर शब्द का उपलक्षण मानकर बहिरन्तरवर्त्ती परमात्मा का वाचक मानने में कोई बाधा भी नहीं, क्योंकि वेदोपनिषदादि शास्त्रों में परमात्मा का बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण होना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जैसा किः—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ यजु० ४०।५

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ मुण्ड० २।२।६

इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट है कि वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता, स्वरूप से अचल, सब से दूर तथा सब के समीप और सम्पूर्ण जगत् के बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। (१) वह परमात्मा मूर्ति तथा जन्म से रहित और बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है, न उसके प्राण हैं न मन, वह शुद्ध परमपवित्र जगत्पिता परमात्मा प्रकृति और प्रकृति के कार्य्यों से परे है (२) इसलिये यहां "बहिः" शब्द का अर्थ जो आधुनिक टीकाकारों ने किया है वह आदरणीय नहीं।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४३॥

पद०—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्। भूतजयः।

पदा०—(स्थूलस्वरू०) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व, में संयम करने से (भूतजयः) भूतजय की प्राप्ति होती है।

भाष्य—पृथिवी आदि व्यक्ति का नाम "**स्थूल**" कठिनता, स्नेह=गीलापन, औष्ण्य, गति तथा अनावरणतारूप धर्मों द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले पृथिवीत्व आदि सामान्य विशेष का नाम "**स्वरूप**" पृथिवी आदि भूतों के कारण गन्धादि पञ्चतन्मात्रों का नाम "**सूक्ष्म**" पृथिवी आदि में कारणरूप से अन्वित गुणत्रय का नाम "**अन्वय**" भोगापवर्गार्थता का नाम "**अर्थवत्त्व**" और भूतों को स्वाधीन कर लेने का नाम "**भूतजय**" है। जो योगी पृथिवी आदि भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पांच प्रकार के रूपों में संयम करता है, उसको भूतजय नामक विभूति प्राप्त होती है।

भाव यह है कि जो योगी पृथिवी आदि भूतों के उक्त पांचों रूपों में विवेक पूर्वक संयम करता है उसके वश में उक्त पांचों भूत होजाते हैं जिससे वह इनके उपयोग से नाना प्रकार के कार्य्यों का सम्पादन कर सकता है।

सं०-अब भूतजय का फल कथन करते हैं:-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४४॥

पद०-ततः। अणिमादिप्रादुर्भावः। कायसम्पत्। तद्धर्मानभिघातः। च।

पदा०-(ततः) भूतों के जय होने से (अणिमादिप्रादुर्भावः) अणिमादि आठ सिद्धियों की प्राप्ति (च) और (कायसम्पत्) शरीर ऐश्वर्य तथा (तद्धर्मानभिघातः) भूतधर्म्मों के अनभिघात की प्राप्ति होती है।

भाष्य-अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व तथा यत्रकामावसायित्व, इन आठ सिद्धियों का नाम "अणिमादि" प्राप्ति का नाम "प्रादुर्भाव" देह ऐश्वर्य्य का नाम "कायसम्पत्" कठिनता, स्नेह, उष्णता, गति और अनावरणता, इन भूतधर्मों के साथ प्रतिकूल सम्बन्ध न होने का नाम "तद्धर्मानभिघात" है। सूक्ष्म होने के सामर्थ्य को "अणिमा" लघु होने के सामर्थ्य को "लघिमा" महान् होने के सामर्थ्य को "महिमा" सर्वपदार्थों के प्राप्त करने के सामर्थ्य को "प्राप्ति" अमोघ इच्छा को उत्पन्न करने के सामर्थ्य को "प्राकाम्य" प्राणिमात्र को वश में करने के सामर्थ्य को "वशित्व" ऐश्वर्य्य सम्पादन करने के सामर्थ्य

को "ईशितृत्व" और सत्यसङ्कल्प करने के सामर्थ्य को "यत्रकामावशायित्व" कहते हैं।

जिस योगी को भूतजयरूप विभूति की प्राप्ति होती है उसको अणिमादि उक्त सिद्धियों तथा कायसम्पत् की प्राप्ति होजाती है और पृथिवी का कठिनता धर्म, जल का स्नेह धर्म, अग्नि का उष्णता धर्म, वायु का गति धर्म और आकाश का अनावरणता धर्म, उसका प्रतिबन्धक नहीं होता अर्थात् स्वकार्य्य में प्रवृत्त हुये भूतजयी योगी को भूतों के कठिनतादि धर्मों का प्रतिकूल सम्बन्ध नहीं होता।

भाव यह है कि जिस योगी को पृथिवी आदि भूतों का वशीकार होगया है उसको इनसे यथोपयोग कार्य्य लेने के समय कठिनतादि धर्मों का प्रतिबन्ध नहीं होता और इनका प्रतिबन्ध न होने से निर्विघ्नतापूर्वक प्रवृत्त हुआ योगी सब कार्य्यों को सहज में ही सिद्ध कर लेता है।

सं०—अब कायसम्पत् का निरूपण करते हैं:—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् । ४५।।

पद०—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि । कायसम्पत् ।

पदा०—(रूपलावण्य०) रूप, लावण्य, बल तथा वज्रसंहननत्व, इन चारों का नाम (कायसम्पत्) कायसम्पत् है।

भाष्य—दर्शनीय रूप का नाम "रूप" सर्वाङ्गसौन्दर्य्य का नाम "लावण्य" वीर्य्य की अधिकता का नाम "बल" वज्र समान अवयवों के दृढ़ सम्बन्ध का नाम "वज्रसंहननत्व" है। यह चारों देह ऐश्वर्य्य भूतजयी योगी को प्राप्त होते हैं।

सं०—अब और विभूति कहते हैं:-

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रिय-जयः ॥४६॥

पद०—ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात् । इन्द्रियजयः ।

पदा०—(ग्रहणस्वरू०) ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व, इन पांच रूपों में संयम करने से (इन्द्रियजयः) इन्द्रिय-जय की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—विषयाकार इन्द्रियों की वृत्ति का नाम "ग्रहण" श्रोत्रत्वादि धर्मों का नाम "स्वरूप" और इन्द्रियों के कारण अहङ्कार का नाम "अस्मिता" तथा अस्मिता में अनुगत गुणत्रय का नाम "अन्वय" और इसमें रहनेवाली भोगापवर्गार्थता का नाम "अर्थवत्त्व" है । यह श्रोत्रादि इन्द्रियों के पांच रूप हैं, जो योगी विवेकपूर्वक इन पांचों में संयम करता है उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियां वशीभूत होजाती हैं ।

भाव यह है कि इन्द्रियां विषयप्रवणस्वभाववाली होने के कारण मनुष्य को विषयों की ओर लेजाती हैं और मनुष्य इनके वशीभूत होकर पुरुषार्थ से गिर जाता है, जब योगी उक्त पांचों रूपों में संयमद्वारा इनको अपने वश में कर लेता है तब यह विषय-प्रवणस्वभाव का परित्याग करके अन्तर्मुख होजाती हैं और यथा-समय योगी की इच्छानुसार बाह्यविषयों में प्रवृत्त हुई यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, इस प्रकार इन्द्रियों का योगी के अधीन होकर जो विषयज्ञान का सम्पादन करना है उसी को "इन्द्रियजय" कहते हैं ।

सं०—अब इन्द्रियजय का फल कथन करते हैं:—

ततो मनोजवित्वं विकरणभाव: प्रधानजयश्च ।।४७।।

पद०—ततः । मनोजवित्वं । विकरणभावः । प्रधानजयः । च ।

पदा०—(ततः) इन्द्रियजय से (मनोजवित्वं) मनोजवित्व (विकरणभावः) विकरणभाव (च) और (प्रधानजयः) प्रधान जय की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—मन के समान इन्द्रियों की गति का नाम "मनोजवित्व" सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों की ग्रहणशक्ति का नाम "विकरणभाव" और इन्द्रियों की विषयप्रवणरूप प्रधानशक्ति के जय का नाम "प्रधान-जय" है । जिस योगी को इन्द्रियजय की प्राप्ति होती है उसकी इन्द्रियां मन के समान शीघ्र वेगवाली तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करनेवाली होजाती हैं और उनकी विषयों में स्वतन्त्रता-पूर्वक गमनशक्ति का सर्वथा अभिभव होजाता है जिस के कारण वह यथाकाम विषयों में प्रवृत्त नहीं होसकतीं ।

यह तीनों सिद्धियां योगशास्त्र में "मधुप्रतीका" नाम से कही जाती हैं ।

सं०—अब अन्य विभूति कथन करते हैं:-

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।४८।।

पद०—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य । सर्वभावाधिष्ठातृत्वं । सर्वज्ञातृत्वं । च ।

पदा०—(सत्त्वपुरुषा०) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिवाले योगी को

(सर्वभावाधिष्ठातृत्वं) सर्वभावाधिष्ठातृत्व (च) और (सर्वज्ञातृत्वं) सर्वज्ञातृत्व की प्राप्ति होती है।

भाष्य— स्वार्थसंयम से उत्पन्न हुये पुरुषज्ञान का नाम "सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति" दृढ़ अभ्यास द्वारा उक्त ज्ञान की परिपक्व अवस्था-वाले योगी का नाम "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र" सर्वप्राणियों के स्वामी होने का नाम "सर्वभावाधिष्ठातृत्व" तथा सर्वपदार्थों के तत्त्ववेत्ता होने का नाम "सर्वज्ञातृत्व" है। जिस योगी का चित्त स्वार्थसंयम-द्वारा उत्पन्न हुई सत्त्वपुरुषान्यताख्याति में प्रतिष्ठित होजाता है उसको सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वभावज्ञातृत्व यह दोनों सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जो योगी दृढ़ अभ्यासद्वारा आत्मज्ञान में स्थितचित्त हुआ प्रतिक्षण परमात्मानन्द का अनुभव करता है वह प्राणिमात्र का पूजनीय तथा सर्वपदार्थों का ज्ञाता होजाता है जैसा कि :—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामान्
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः। मुण्ड० ३।१।१०

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।
वृह० ६।५।५

इत्यादि श्रुतियों में लिखा है कि गृहस्थाश्रमी जिस जिस लोक तथा जिस जिस ऐश्वर्य्य की इच्छा करता है वह उसको आत्मज्ञ योगी की सेवा से प्राप्त होसकते हैं, इसलिये ऐश्वर्य्य की कामना-वाला गृहस्थ शुद्ध अन्तःकरण से श्रद्धा तथा सत्कारपूर्वक उसकी सेवा करे।१।

हे मैत्रेयी ! श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा जिसको आत्मा का ज्ञान होता है वह सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता होजाता है । २ ।

यह दोनों सिद्धियां योगियों की परिभाषा में "विशोका" नाम से कही जाती हैं, जिस योगी को यह प्राप्त होती हैं वह शोक-रहित हुआ संसार के उपकारार्थ भूमण्डल में स्वतन्त्रतापूर्वक विच-रता है ।

सं०—अब विवेकज्ञान का मुख्यफल कथन करते हैं:-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।।४९।।

पद०—तद्वैराग्यात् । अपि । दोषबीजक्षये । कैवल्यम् ।

पदा०—(तद्वैराग्यात्) उक्त ख्याति में वैराग्य होने से (दोष-बीजक्षये) दोष बीज का नाश होजाने पर (कैवल्यं) कैवल्य की (अपि) भी प्राप्ति होती है ।

भाष्य-परवैराग्य का नाम "वैराग्य" अविद्यादि पांच क्लेशों का नाम "दोष" और उनके संस्कारों का नाम "दोषबीज" है । इनसे उक्त क्लेश उत्पन्न होते हैं, जब योगी को विवेकख्याति में भी वैराग्य उत्पन्न होजाता है तब इसके चित्त में अनादिकाल से रहने वाले अविद्यादि क्लेशों के संस्कार सर्वथा क्षय होजाते हैं, उनके क्षय होने से योगी को सहज ही में असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होजाती है और उसकी प्राप्ति होने से वह मुक्त होजाता है ।

भाव यह है कि विवेकख्याति बुद्धि का धर्म है और बुद्धि अनात्मा होने के कारण हेय है उपादेय नहीं, इस प्रकार का विचार जब योगी को उत्पन्न होता है तब उसको विवेकख्याति में भी वैराग्य उदय होता है और वैराग्य के उदय होने से अनादिकाल से चित्त में विद्यमान दोषबीज क्षीण होजाते हैं और उनके क्षीण होजाने से चित्त अपनी प्रकृति में लीन होजाता है, चित्त के लय

हो जाने से चरितार्थ हुए गुण फिर संसार का आरम्भ नहीं करते, उनके संसारारम्भ न करने से आध्यात्मिकादि तीनों दुःखों से विनिर्मुक्त हुआ पुरुष परमात्मा के स्वरूपभूत आनन्द को भोगता है, इसी का नाम "कैवल्य" है।

सं०—अब कैवल्य के साधन समाधि में प्रवृत्त हुए योगी को भावी विघ्नों की निवृत्ति का उपदेश करते हैं :—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५० ॥

पद०—स्थान्युपनिमन्त्रणे। सङ्गस्मयाकरणं। पुनः। अनिष्ट-प्रसङ्गात्।

पदा०—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानधारी महान्पुरुषों के निमन्त्रण करने पर (सङ्गस्मयाकरणं) संग तथा स्मय नहीं करना चाहिये, (पुनः) इसलिये कि उसके करने से (अनिष्टप्रसङ्गात्) अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

भाष्य—विषयासक्त महान् ऐश्वर्य्यशाली गृहस्थियों का नाम "स्थानी" समीप जाकर सत्कारपूर्वक प्रार्थना का नाम "उपनिमन्त्रण" प्रीति का नाम "संग" गर्व का नाम "स्मय" और जन्म मरणरूप संसार दुःख की प्राप्ति का नाम "अनिष्टप्रसङ्ग" है। जब विषयानुरागी महान् ऐश्वर्य्यशाली गृहस्थी लोग समीप जाकर सत्कारपूर्वक इस प्रकार की प्रार्थना करें कि हे योगिन् आपके दर्शन पूर्वपुण्यों के प्रभाव से हुए हैं, आप कृपा करके हमारे गृह में निवास करें हम सब आप की सेवा करेंगे, तब योगी प्रार्थना के वशीभूत हुआ उनके साथ प्रीति और अहो मेरा योग प्रभाव! कैसे कैसे ऐश्वर्यशाली लोग सत्कारपूर्वक मेरा आह्वान करते हैं, इस प्रकार

का अपने चित्त में गर्व न करे क्योंकि प्रीति आदि करने से योगभ्रष्ट हुआ योगी पुनः जन्ममरणरूप संसार दुःख को प्राप्त हो जाता है।

सं०—अब और विभूति कथन करते हैं:—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५१ ॥

पद०—क्षणतत्क्रमयोः। संयमात्। विवेकजं ज्ञानम्।

पदा०—(क्षणतत्क्रमयोः) क्षण तथा क्षणों के क्रम में (संयमात्) संयम करने से (विवेकजं) विवेकज (ज्ञानं) ज्ञान को प्राप्ति होती है।

भाष्य—जितने काल में परमाणु पूर्व देश का परित्याग कर उत्तरदेश को प्राप्त होता है उतने काल का नाम "क्षण" अथवा अक्षिनिमेष के चतुर्थ भाग का नाम "क्षण" और क्षणों की अवच्छिन्नपरम्परा का नाम "क्रम" है। विवेकज ज्ञान के स्वरूप का वर्णन आगे ५३ वें सूत्र में करेंगे, जब योगी क्षण और क्षणों के क्रम में संयम करता है तब उसको विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है।

भाव यह है कि संसार में जितने पदार्थ हैं वह सब चेतनशक्ति के बिना क्षणपरिणामी हैं, इसलिये जब योगी उनके परिणामक्षण में तथा क्षणों के क्रम में संयम करता है तब उसको क्षण तथा क्रम का साक्षात्कार हो जाता है, और उनके साक्षात्कार होने से तद्वर्त्ती निखिल पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, इसी का नाम "विवेकजज्ञान" है।

सं०—अब विवेकजज्ञान का फल कथन करते हैं:—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५२ ॥

पद०—जातिलक्षणदेशैः। अन्यतानवच्छेदात्। तुल्ययोः। ततः। प्रतिपत्तिः।

पदा०-(जातिलक्षणदेशैः) जाति, लक्षण तथा देश द्वारा (अन्यतानवच्छेदात्) भेदका निश्चय न होने से (तुल्ययोः) तुल्य-पदार्थों के (प्रतिपत्तिः) भेद का निश्चय (ततः) विवेकजज्ञान से होता है।

भाष्य—अनुगत धर्म का नाम "जाति" असाधारण धर्म का नाम "लक्षण" पूर्व पश्चिमादि दिशा का नाम "देश" भेद का नाम "अन्यता" निश्चय ज्ञान का नाम "अवच्छेद" तथा "प्रतिपत्तिः" इस से विपरीत का नाम "अनवच्छेद" और जाति, लक्षण तथा देश द्वारा समान पदार्थों का नाम "तुल्य" है। जहां जाति आदिकों से दो समान पदार्थों के भेद का निश्चय नहीं हो सकता वहां उनका निश्चय विवेकजज्ञान से होता है।

भाव यह है कि लोक में जो दो पदार्थों के परस्पर भेद का ज्ञान होता है वह जाति आदि के भेद द्वारा होता है, जैसाकि समान देश में स्थित तथा समान लक्षणवाले गौ और गवय के भेद का निश्चय गोत्वादि जाति से, समान लक्षण तथा समान देशवाली दो गौओं के भेद का निश्चय कपिलत्वादि लक्षण से और समान जाति तथा समान लक्षणवाले दो आमलों के भेद का निश्चय पूर्वादि देश से होता है कि यह आमला इस आमले से भिन्न है और जहां अन्य अर्थ में व्यग्र हुए योगी के सम्मुख पूर्व तथा पश्चिम दिशा में स्थित उक्त आमलों के मध्य पश्चिम दिशा के आमले को भी पूर्व दिशा में रख दिया जाय तो वहां जो उक्त दोनों आमलों के भेद का ज्ञान होता है कि यह आमला पश्चिम दिशा का है और यह पूर्व दिशा का है यह विवेकजज्ञान से होता है क्योंकि वहां पर जाति लक्षण तथा देश के तुल्य होने से उनके द्वारा भेद का ज्ञान होना असम्भव है, इस प्रकार जाति, लक्षण तथा देश के द्वारा भेद का ज्ञान न

होकर जो तुल्य पदार्थों के भेद का ज्ञान होता है वही विवेकजज्ञान का फल है।

सं०—अब विवेकजज्ञान का स्वरूप कथन करते हैं:—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५३ ॥

पदा०—तारकं । सर्वविषयं । सर्वथाविषयं । अक्रमं । च । इति । विवेकजं । ज्ञानम् ।

पदा०—(तारकं) तारक (अक्रमं) एक ही काल में (सर्वविषयं) सर्वपदार्थगोचर (च) तथा (सर्वथाविषयं) सर्वप्रकार से सर्व-पदार्थगोचर (इति) जो ज्ञान है, उसको (विवेकजं ज्ञानं) विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

भाष्य—जो ज्ञान बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होता है उसका नाम "तारकं" जो समानरूप से पदार्थमात्र को विषय करता है उसका नाम "सर्वविषयं" जो अवान्तर धर्मों सहित भूत, वर्त्तमान तथा अनागत पदार्थों को विषय करता है उसका नाम "सर्वथाविषयं" और एक ही काल में जो सम्पूर्ण पदार्थों को सर्वप्रकार से विषय करता है उसका नाम "अक्रमं" है।

जब योगी क्षण और क्षणों के क्रम में संयम करता है तब उसको उनका साक्षात्कार हो जाने से एक ही काल में अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करनेवाला बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम विवेकजज्ञान है।

सं०—यहां पर्य्यन्त योग की विभूतियों का निरूपण किया,

अब कैवल्य का उपाय कथन करते हुए पाद को समाप्त करते हैं:—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५४ ॥

पद०—सत्त्वपुरुषयो: । शुद्धिसाम्ये । कैवल्यं । इति ।

पदा०—(सत्त्वपुरुषयो:) बुद्धि तथा पुरुष की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि समान होने से (कैवल्यं) कैवल्य की प्राप्ति होती है (इति) यह पाद समाप्त हुआ ।

भाष्य—"इति" शब्द पाद की समाप्ति के लिये आया है, सत्त्वपुरुष का नाम "बुद्धिपुरुष" विवेकख्याति द्वारा बुद्धि के दग्धक्लेशबीज होने का नाम "बुद्धिशुद्धि" बुद्धि द्वारा होनेवाले भोग के अभाव का नाम "पुरुषशुद्धि" है। जब योगी को बुद्धि तथा पुरुष की शुद्धि प्राप्त होती है तब वह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है ।

भाव यह है कि विवेकख्याति के उदय होने से संसार के हेतु क्लेश बीज जब क्षय हो जाते हैं तब बुद्धि पुरुष के समान शुद्ध कही जाती है और अविवेक दशा में बुद्धि के द्वारा होनेवाले भोग की जब निवृत्ति हो जाती है तब पुरुष की शुद्धि कही जाती है, इस प्रकार जब योगी को उक्त दोनों शुद्धियां प्राप्त हो जाती हैं तब वह मुक्त हो जाता है ।

यहां इतना स्मरण रहे कि विवेकजज्ञान पर्य्यन्त जितनी विभूतियों का निरूपण किया है वह परम्परा से कैवल्य का उपयोगी मानकर किया है वस्तुत: कैवल्य का हेतु केवल विवेकख्याति ही है, जिस योगी को उक्त विभूतियों की प्राप्ति नहीं हुई और विवेकख्याति की प्राप्ति हो गई है उसको कैवल्य के प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं, परन्तु विवेकख्याति के न होने से कैवल्य की

प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये कैवल्याभिलाषी योगियों को विवेकख्याति का ही सम्पादन करना आवश्यक है।

दोहा

अंग तीन परिणाम कथ, कियो पादको अन्त।
योग विभूति विशालता, ताको जानत सन्त।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, योगार्य्यभाष्ये
तृतीयः साधनपादः समाप्तः।

ओ३म्

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद में योग, योग के साधन और योग की विभूतियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस चतुर्थ पाद में कैवल्य का निरूपण करते हुए कैवल्य योग्य चित्त के निर्णयार्थ पांच प्रकार के सिद्धचित्तों का कथन करते हैं:-

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

पद०—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः । सिद्धयः ।

पदा०—(जन्मौषधि०) जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि, इन पांचों से उत्पन्न हुई पांच प्रकार की (सिद्धयः) सिद्धियां हैं।

भाष्य—जन्मजा, औषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा, समाधिजा, भेद से सिद्धियां पांच प्रकार की हैं। संस्कारी पुरुषों के जन्म से होनेवाले तीव्रबुद्धि आदि सामर्थ्य को "जन्मजा" पुष्टिकारक औषधियों के सेवन करने से शरीर में होनेवाली शक्तिविशेष को "औषधिजा" वेदाध्ययन द्वारा चित्तसिद्धि को "मन्त्रजा" ब्रह्मचर्य्य आदि तपों से चित्तसिद्धि को "तपोजा" और पूर्वपादोक्त चित्तवृत्ति-निरोधरूप समाधि से होनेवाली सिद्धि को "समाधिजा" कहते हैं।

भाव यह है कि चित्तसिद्धि के यह पांच प्रकार हैं इन प्रकारों से योगी का चित्त सिद्ध हो जाता है और चित्त की सिद्धि होने से उसके शरीर तथा इन्द्रियों में दिव्य सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

सं०--ननु, पूर्वोक्त साधनों से शरीर तथा इन्द्रियां पूर्व से विलक्षण कैसे हो जाती हैं ? उत्तरः—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

पद०--जात्यन्तरपरिणामः । प्रकृत्यापूरात् ।

पदा०--(प्रकृत्यापूरात्) प्रकृतियों के आपूर से (जात्यन्तर-परिणामः) पूर्वजन्म के भावों को त्यागकर अन्य प्रकार का परिणाम होता है ।

भाष्य--उपादान कारण का नाम "प्रकृति" और प्रकृति के कार्य्यों में अवयवों के प्रवेश को "आपूर" कहते हैं। मन्त्र, तप, औषधादि के प्रभाव से जो शरीर और इन्द्रियों का पूर्वप्रकृति से विलक्षण परिणाम होता है उस को "जात्यन्तरपरिणाम" कहते हैं।

भाव यह है कि चित्त और इन्द्रियों की प्रकृति जो अहङ्कारादिक हैं उनमें अन्य प्रकृति के अवयवों का आरम्भ कर देना जात्यन्तर परिणाम कहलाता है अर्थात् शरीर का औषधि से और चित्त तथा इन्द्रियों का स्वाध्यायादि संस्कारों से परिवर्त्तन हो जाता है।

सं०–यदि प्रकृत्यापूर से जात्यन्तरपरिणाम होजाता है तो पूर्व कर्म निष्फल हैं ? उत्तरः—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

पद०–निमित्तम् । अप्रयोजकं । प्रकृतीनां । वरणभेदः । तु । ततः । क्षेत्रिकवत् ।

पदा०—(निमित्तं) धर्मादिक जो निमित्त हैं वह (प्रकृतीनां) प्रकृतियों का (अप्रयोजकं) प्रयोजक नहीं हैं (तु) किन्तु (ततः) धर्मादिक निमित्तों से (क्षेत्रिकवत्) खेत जोतनेवाले किसान की भांति (वरणभेदः) प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है।

भाष्य—जैसे किसान एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जल लेजाने के लिये जल के प्रतिबन्धक आलबाल को छिन्नभिन्न कर देता है तब वह स्वयं अन्य क्षेत्र में पहुंच जाता है, इसी प्रकार उक्त पांच प्रकारों से चित्त की सिद्धि होने के लिये धर्म केवल विघ्नों को हटाता है, विघ्नों के दूर होने से उक्त सिद्धियों का यह स्वभाव है कि वह चित्त और इन्द्रियों के जन्म को बदल देती हैं।

यहां परिवर्त्तन होने के अर्थ चित्त का स्वभाव और इन्द्रियों के सामर्थ्य बदलजाने के हैं न कि योगी के शरीर बदल जाने के, यदि जात्यन्तरपरिणाम शब्द से शरीर के परिवर्त्तन होने का अभिप्राय लिया जाय तो पूर्वोक्त सब कर्म निष्फल होजाते हैं।

सं०—यह दोष तो चित्त के परिवर्त्तन होने में भी समान है ?

उत्तरः-

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

पद०—निर्माणचित्तानि। अस्मितामात्रात्।

पदा०—(निर्माणचित्तानि) चित्त को जो प्रकृत्यापूरद्वारा निर्माण करना कथन किया है वह (अस्मितामात्रात्) अविवेकमात्र से है।

भाष्य—तपःस्वाध्यायादि साधनों से चित्त को सिद्ध करने के अर्थ नूतन उत्पन्न करने के नहीं किन्तु पूर्वसिद्ध चित्त को सुधार लेने के हैं और जो प्रकृत्यापूर से चित्त का निर्माण करना कथन

किया गया है वह उपचार से है वास्तव नहीं ।

इस सूत्र के भाष्य में पौराणिक टीकाकारों ने योगी में अनन्त शरीर उत्पन्न करने का सामर्थ्य माना है और उन अनेक शरीरों के लिये योगी अनेक ही चित्त उत्पन्न कर लेता है अर्थात् योगी के भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न चित्त होते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से यह दोष उत्पन्न होता है कि एक-एक चित्त अपने अपने शरीर को जिधर चाहेगा उधर ही लेजावेगा और ऐसा होने से फिर कोई व्यवस्था न रहेगी क्योंकि उन सब चित्तों का नियन्ता कोई एक नहीं । इस दोष को दूर करने के लिये यह उत्तर दिया है कि योगी एक और चित्त उत्पन्न कर लेता है जो उन सब चित्तों का स्वामी होता है और वही सब चित्तों को आज्ञा में रखता है, इस प्रकार असम्भव अर्थों से योग को खेल के खिलोनों के समान बना दिया है जो सूत्रों के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, इसी आशय को सिद्ध करने के लिये पौराणिक टीकाकारों ने निम्नलिखित सूत्र का अर्थ इस प्रकार बदला है कि :—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।५।।

पद०—प्रवृत्तिभेदे । प्रयोजकं । चित्तं । एकं । अनेकेषाम् ।

पदा०—(अनेकेषाम्) अनेक चित्तों की (प्रवृत्तिभेदे) जाने आनेरूप क्रिया में (एकं चित्तं) एकचित्त (प्रयोजकं) प्रेरक होता है ।

भाष्य—इस सूत्र का यह अर्थ सर्वथा असङ्गत है , यदि इस सूत्र का यह अर्थ होता तो आगे के सूत्र में यह क्यों निरूपण किया जाता कि वासनारहित चित्त ही कैवल्य=मुक्ति का उपयोगी है, पूर्व चार प्रकार के चित्त कैवल्य के उपयोगी नहीं , इस सङ्गति से पाया जाता है कि यहां पांच प्रकार के सिद्धचित्तों का ही वर्णन है

अनेक शरीर धारण तथा अनेक चित्तों की उत्पत्ति का कोई प्रकरण नहीं।

वास्तव में सूत्र का अर्थ सङ्गति से यों बनता है कि उक्त मन्त्रादि साधनों से एक चित्त पांच प्रकार का कैसे होसकता है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि :—(अनेकेषाम्) अनेक कार्य्यों की (प्रवृत्तिभेदे) भिन्न भिन्न दशा में (एकं चित्तं) एक चित्त ही (प्रयोजकं) हेतु है।

भाष्य—सात्त्विकी प्रवृत्तिवालों के लिये वही चित्त सात्त्विकभावनापन्न, तामसी प्रवृत्तिवालों के लिये वही चित्त तमोभावापन्न और राजसी प्रवृत्तिवालों के लिये वही चित्त रजोभावापन्न होजाता है।

सं०–अब उक्त भावों से वर्जित चित्त का कैवल्य में उपयोगी होना कथन करते हैं:—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

पद०–तत्र। ध्यानजम्। अनाशयम्।

पदा०–(तत्र) पांच प्रकार के चित्तों में से (ध्यानजं) ध्यान= समाधिरूप सिद्धि से सिद्धचित्त (अनाशयं) क्लेशादि वासनाओं से रहित हुआ कैवल्य का उपयोगी होता है।

भाष्य–उक्त पांच प्रकार के चित्तों में से वासनारहित चित्त ही समाधि के उपयोगी है।

सं०–ननु, योगी के साथ भी पूर्वकर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है फिर योगी का चित्त कर्मों की वासना से रहित कैसे होसकता है? उत्तरः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७।।

पद०–कर्म । अशुक्लाकृष्णम् । योगिनः । त्रिविधम् । इतरेषाम् ।

पदा०—(योगिनः) योगी के कर्म (अशुक्लाकृष्णम्) अशुक्लाकृष्ण होते हैं और (इतरेषाम्) योगी से भिन्न पुरुषों के कर्म (त्रिविधम्) तीन प्रकार के होते हैं ।

भाष्य–योगी के समाधि आदि कर्मों का नाम "अशुक्लाकृष्ण" है । योगी का कर्म निष्काम होने से शुक्ल=पुण्य रूप नहीं और अकृष्ण=निषेध विषयक वैदिक प्रमाण न पाये जाने ने पाप रूप भी नहीं और इतर जीवों के कर्म शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण, भेद से तीन प्रकार के हैं, तप, स्वाध्याय, ध्यानादि सात्त्विक कर्मों का नाम "शुक्ल" ब्रह्महत्या आदि तामस कर्मों का नाम "कृष्ण" और यज्ञादि राजस कर्मों का नाम "शुक्लकृष्ण" है ।

भाव यह है कि समाधि द्वारा अविद्यादि क्लेश तथा कर्मों की बासनाओं के निवृत्त होजाने से योगी को पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं होता और योगी से भिन्न पुरुषों के चित्त में उक्त तीन प्रकार के कर्मों द्वारा वासनाओं के बने रहने से पुण्य पाप का सम्बन्ध भी बना रहता है ।

सं०–ननु, जब योगी से भिन्न जीवों के कर्म शुक्ल कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण, एवं तीन प्रकार के होते हैं तो ऐसे मिश्रित कर्मों से मनुष्यजन्म कैसे होसकता है ? उत्तरः–

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।८।।

पद०—ततः । तद्विपाकानुगुणानाम् । एव । अभिव्यक्तिः । वासनानाम् ।

पदा०–(ततः) उक्त तीन प्रकार के कर्मों में से (तद्विपाकानुगुणानां, वासनानां) मनुष्य जन्म के फल देने के लिये अभिमुख जो वासनाएं हैं उन्हीं की (अभिव्यक्तिः) प्रकटता मनुष्य जन्म के लिये होती है इतर तिर्यंक् जन्म के देनेवाली वासनाओं की नहीं।

भाष्य—यद्यपि उक्त तीनों प्रकार के कर्मों में तिर्यंक् योनि देनेवाले कर्म भी सम्मिलित हैं परन्तु जिस जिस योनि के कर्मों का आधिक्य होता है प्रथम वही जन्म होते हैं इसलिये कर्मों के मिश्रित होने से भी कोई दोष नहीं आता।

सं—जब एक वा कई मनुष्यजन्म होचुके तो तिर्यंकजन्म देनेवाले कर्मों में बहुत अन्तर पड़ गया फिर वह तिर्यंक्जन्म के हेतु कैसे ? उत्तरः—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥६॥

पद०–जातिदेशकालव्यवहितानाम्। अपि। आनन्तर्य्यं। स्मृतिसंस्कारयोः। एकरूपत्वात्।

पदा०—(जातिदेशकालव्यवहितानाम्) जाति=मनुष्यादिजाति, देश=जहां जन्म हुआ, काल=शतसहस्रवर्ष, इस प्रकार के व्यवधानों से व्यवहितानां=व्यवधानवाली वासनाओं का (अपि) भी (आनन्तर्य्यं) फल देने में कोई अन्तर नहीं क्योंकि (स्मृतिसंस्कारयोः) स्मृति और संस्काररूप वासनाओं का (एकरूपत्वात्) सहचार पाये जाने से।

भाष्य—जो पूर्वपक्षी ने यह दोष दिया था कि अनेक जन्म तथा बहुकाल के व्यवधान पड़जाने से वह कर्म अन्य जन्म के हेतु

न होंगे ? इसका उत्तर इस सूत्र में यह दिया गया है कि जब स्मृति होगी तभी उन वासनाओं का आविर्भाव होजाएगा क्योंकि स्मृति और वासनाओं की समानविषयता मानी गई है अर्थात् यह दोनों एक ही चित्तरूपी अधिकरण में रहते हैं, इसलिये जात्यादि व्यवधानों का जन्मान्तर में कोई दोष नहीं।

सं०—ननु शरीर प्रथम हो तो उससे कर्म उत्पन्न होकर उन की वासनाएं बनें और प्रथम वासनाएं हों तो उनसे शरीर बने, यह अन्योऽन्याश्रय दोष वासनाओं से जन्म मानने में आता है ? उत्तरः—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

पद०—तासाम् । अनादित्वम् । च । आशिषः । नित्यत्वात् ।

पदा०—(तासाम्) उक्त वासनाओं का (अनादित्वम्) अनादिपन (आशिषः) जीने की इच्छा के (नित्यत्वात्) नित्य होने से पाया जाता है।

भाष्य—पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष इसलिये नहीं आता कि वासनाएं प्रवाहरूप से अनादि हैं क्योंकि जन्म से ही जो बालक को शस्त्रादिकों से भय लगता है वह भय उसने किसी पूर्व जन्म में अनुभव किया है और उस जन्म का पूर्व जन्म की वासनाएं हेतु हैं। और जो यह कहा गया है कि शरीराधीन वासनाएं हैं तथा वासनाधीन शरीर हैं यह इसलिये ठीक नहीं कि जिन वासनाओं से यह शरीर बना है वह वासंनाएं इस शरीर के कर्मों से नहीं बनीं किन्तु पूर्व शरीर के कर्मों से बनी हैं, और वह पूर्व शरीर अन्य कर्मों की वासनाओं से बना था। जैसा कि बीज से अङ्कुर, उस अङ्कुर से और बीज, उस बीज से और अङ्कुर, इस बीजाङ्कुरन्याय में अन्योऽन्याश्रय नहीं लगता, इस प्रकार वासनाओं को प्रवाहरूप से

अनादि मानने में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता।

सं०—ननु, वासना अनादि हैं तो उनका अभाव कैसे होसकता है ? उत्तरः—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

पद०—हेतुफलाश्रयालम्बनैः । संगृहीतत्वात् । एषाम् । अभावे । तदभावः ।

पदा०—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः) हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन, इन चारों के द्वारा (संगृहीतत्वात्) वासनाओं का संग्रह होने से (एषाम्, अभावे) इनके अभाव से (तदभावः) वासनाओं का अभाव होजाता है।

भाष्य—वासनाओं का मूलकारण अविद्या है, उसका नाश होजाने से वासनाओं का स्वयं नाश होजाता है क्योंकि अविद्यारूपी दण्ड से यह षट् अरोंवाला संसारचक्र भ्रमण करता है अर्थात् प्रथम जीव को धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःख, फिर सुख से सुख और उसके साधनों में राग और दुःख से दुःख तथा उसके साधनों में द्वेष, फिर राग द्वेष से प्रयत्न=शरीर की चेष्टा होना, चेष्टा से परपीड़ा तथा पर-अनुग्रह होना और उससे धर्माधर्म उत्पन्न होते हैं और उनसे फिर सुख दुःख तथा सुख दुःख से राग द्वेष। इस प्रकार अनादिकाल से भ्रमित धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, राग, द्वेष, इन छः अरोंवाला संसारचक्र है, इस चक्र का मूल अविद्या है।

तात्पर्य्य यह है कि अविद्या वासनाओं का 'हेतु" और जिस उद्देश्य से धर्माधर्म किये जाते हैं वह "फल" तथा साधिकार मन

"आश्रय" और जिस वस्तु विषयक वासना होती है वह "आलम्बन" है। इस प्रकार इन चारों से वासनाएं संगृहीत होती हैं, जब विवेक-ख्याति के उदय होने से अविद्या का नाश होजाता है तब हेतु आदि चारों का भी अभाव होजाता है और इनके अभाव होने से वासनाओं का भी अभाव होजाता है।

सं०—ननु, योगशास्त्र में तो सत्कार्य्यवाद माना गया है फिर वासनाओं का नाश कैसे होसकता है ? उत्तरः—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदात् धर्माणाम् ॥ १२॥

पद०—अतीतानागतं । स्वरूपतः । अस्ति । अध्वभेदात् । धर्माणाम् ।

पदा०—(धर्माणां, अध्वभेदात्) महत्तत्त्वादि पदार्थों के कालभेद से (अतीतानागतं) भूत भविष्यत् वस्तु (स्वरूपतः) अपने स्वरूप से (अस्ति) विद्यमान रहती है।

भाष्य—भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानरूप काल भेद से भूत भविष्यत् वस्तु भी वर्त्तमान वस्तु की भांति अपने धर्मों में विद्यमान रहती है क्योंकि वस्तु के स्वरूप का सर्वथा नाश नहीं होता, अतएव वर्त्तमान अवस्था से अतीत अवस्था को प्राप्त होना ही वासनाओं का नाश है, इस प्रकार योग के सत्कार्यवाद की हानि नहीं, वासना वर्तमान अवस्था को प्राप्त होकर ही चित्त को वासित करती हुई बन्ध का हेतु होती हैं और अतीत अवस्था को प्राप्त होकर पुनः चित्त को वासित नहीं करतीं तथा बन्ध का हेतु भी नहीं होतीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस पदार्थ की अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह "अनागत" और जिसकी पीछे होचुकी है वह "अतीत" और जो अपने व्यापार में उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त होरहा है वह "वर्त्तमान" है। योग सिद्धान्त में यह तीनों प्रकार के पदार्थ

योगी के प्रत्यक्षज्ञान का विषय हैं, यदि वस्तु स्वरूप से अतीत और अनागत न मानी जाय तो योगी को त्रैकालिक प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि विषय की सत्ता के बिना प्रत्यक्षज्ञान होना असम्भव है अतएव अतीत अनागत पदार्थों को स्वरूप से विद्यमान मानना आवश्यक है। इससे सिद्ध हुआ कि अतीत और अनागत पदार्थ भी स्वरूप से विद्यमान रहते हैं नाश को प्राप्त नहीं होते।

सं०—अब उक्त धर्मों की गुणरूपता कथन करते हैं:—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

पद०—ते। व्यक्तसूक्ष्माः। गुणात्मानः।

पदा०—(व्यक्तसूक्ष्माः) भूत भविष्यत् वर्त्तमानरूप जो अनेक प्रकार के पदार्थ हैं (ते) वह सब (गुणात्मानः) तीनों गुणों का स्वरूप हैं।

भाष्य—पृथिवी आदि पांच भूत पञ्चतन्मात्रस्वरूप हैं और पञ्चतन्मात्र तथा एकादश इन्द्रिय अहङ्कारस्वरूप हैं और अहङ्कार महत्तत्त्वस्वरूप है तथा महत्तत्त्व प्रधानस्वरूप है और प्रधान गुणत्रयस्वरूप है, इस प्रकार निखिल पदार्थ गुणस्वरूप हैं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति विकृति का भेदाभेद मानने से सम्पूर्ण महत्तत्त्वादि विकृतियों का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणामी नित्य है अर्थात् जैसे सुवर्ण अनेक प्रकार के भूषणों के रूप में बदलता हुआ सुवर्णभाव का परित्याग नहीं करता इसी प्रकार प्रकृति नाना प्रकार के कार्य्यों को उत्पन्न करती हुई अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती अर्थात् स्वरूप से नित्य बनी रहती है और प्रकृति के महत्तत्त्वादि सम्पूर्ण विकार प्रकृतिरूप से नित्य

हुए भी स्वरूप से अनित्य हैं और पुरुष कूटस्थनित्य है यह सिद्धान्त है।

सं०—तीनों गुणों के कार्य्यों में यह पृथिवी है, यह जल है, इस प्रकार की एकरूपता कैसे ? उत्तर :–

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।।१४।।

पद०—परिणामैकत्वात् । वस्तुतत्त्वम् ।

पदा०—(परिणामैकत्वात्) परिणाम की एकता से (वस्तुतत्त्वम्) वस्तुओं की एकरूपता पाई जाती है।

भाष्य—बत्ती, तैल, अग्नि, इन तीनों से मिलकर सिद्ध हुये दीपक में **एकोऽयं दीपः**=यह एक दीपक है, ऐसा व्यवहार होता है, इसी प्रकार एक संख्या के व्यवहार की भांति परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से मिले हुये तीनों गुणों के एक परिणाम को **एका पृथिवी**=यह एक पृथिवी है, तथा **एकं जलम्**=यह एक जल है, इस प्रकार एकत्व की प्रतीति होती है।

तात्पर्य्य यह है कि सम वा प्रधानभाव से परस्पर मिले हुये मृत्तिका, दुग्ध तथा तन्तु आदि अनेक वस्तुओं के एक परिणाम में विरोध होता है, परन्तु पुरुषार्थ का सम्पादन करने के लिये अङ्गाङ्गिभाव से मिले हुये अनेक सत्त्वादि गुणों का परिणाम एक होने में कोई विरोध नहीं।

यहां इतना स्मरण रहे कि सत्त्वप्रधान गुणों का इन्द्रियरूप से और तमप्रधानगुणों का विषयरूप से एक परिणाम है।

सं०—ननु, कोई पदार्थ भी एकरस स्थिर नहीं, सब क्षणिक हैं और विज्ञानस्वरूप हैं फिर प्रकृति पुरुष का नित्यत्व कैसे ?

उत्तर :—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

पद०—वस्तुसाम्ये । चित्तभेदात् । तयोः । विभक्तः । पन्थाः ।

पदा०–(वस्तुसाम्ये) पदार्थ के एक होने पर भी (चित्तभेदात्) ज्ञान के अनेक होने से (तयोः) दोनों का (विभक्तः) भिन्न (पन्थाः) मार्ग है ।

भाष्य—विज्ञानवादी बौद्ध का यह मत है कि एकमात्र विज्ञान ही परमार्थ से वस्तुभूत क्षणिक तथा नाना है और विज्ञान से भिन्न अनुभूयमान घटपटादि सर्वपदार्थ विज्ञान का विषयभूत होने के कारण अनादिविज्ञानवासना से कल्पित मिथ्या हैं अर्थात् विज्ञान से भिन्न पदार्थों की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यदि विज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं तो एक ही घटपटादि पदार्थ नाना विज्ञान का विषय नहीं होसकते और **स एवायं घटः**= यह वही घट है जिसको पूर्व देखा था , इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी नहीं होसकती, क्योंकि जब घट कोई पदार्थ ही नहीं तो उसका अनुभव न होने से संस्कारों के अभावद्वारा प्रथम स्मृति का होना असम्भव है और स्मृति के असम्भव होने से प्रत्यभिज्ञाज्ञान आकाश-पुष्प के समान है ।

तात्पर्य्य यह है कि अन्य से अनुभूत हुई वस्तु अन्य की स्मृति का विषय नहीं होती, इस नियमानुसार पूर्वकाल में घट का कल्पक विज्ञान क्षणिक होने के कारण नाश होजाने से पूर्वविज्ञान द्वारा कल्पितघट उत्तर विज्ञान का विषय नहीं होसकता, अतएव विज्ञान-वादी बौद्ध के मत में प्रत्यभिज्ञाज्ञान सर्वथा असम्भव है ।

तत्त्व यह है कि प्रत्यभिज्ञा के होने से यह पाया जाता है कि

घटपटादि पदार्थ स्वरूप से विद्यमान हुये विज्ञान से भिन्न हैं विज्ञान-कल्पित नहीं ।

यहां इतना स्मरण रहे कि बौद्धों के मत में विज्ञान, ज्ञान बुद्धि, चित्त, यह सब पर्य्याय शब्द हैं और विज्ञान के विषय घट-पटादि को "चैत्य" कहते हैं ।

सं०—अब क्षणिक विज्ञानवादी का एकदेशी यह प्रश्न करता है कि यद्यपि पदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं तथापि ज्ञान के समकाल में ही उनकी सत्ता है अन्यकाल में नहीं ? उत्तर :—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

पद०—न । च । एकचित्ततन्त्र । वस्तु । तदप्रमाणकं । तदा । किं । स्यात् ।

पदा०—(वस्तु) बाह्यपदार्थ (एकचित्ततन्त्रं) विज्ञान समय में ही हैं आगे पीछे नहीं (न च) यह ठीक नहीं, क्योंकि (तदप्रमाणकं) जिस समय वह चित्त उस वस्तु से हट जाता है (तदा) उस समय वह वस्तु (किं) क्या (स्यात्) होगी ।

भाष्य—यदि ज्ञान के अधीन ही पदार्थ की सत्ता मानी जाय और पूर्व उत्तर क्षण में उसका अभाव माना जाय तो जिस समय घट को विषय करनेवाला चित्त घट से निवृत्त होकर अन्य किसी पदार्थ में आसक्त होजायगा वा निरुद्ध होजायगा, उस समय उस पदार्थ का स्वरूप चित्त की विषयता का अभाव होने से उनके मत में नष्टप्रायः होजायगा क्योंकि व्यग्र और निरुद्ध चित्त का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं और अन्य किसी चित्त का वह विषय ही नहीं,

अतएव बाह्यपदार्थ चित्त के समान काल में ही हैं आगे पीछे नहीं वह ठीक नहीं यह कथन अयुक्त है।

भाव यह है कि घटादि पदार्थ विज्ञान से भिन्न स्व सत्ता से विद्यमान हैं, विज्ञानकल्पित अलीक नहीं।

सं०—अब बाह्यवस्तु विषयक कभी ज्ञान होना और कभी न होना, इसका कारण कथन करते हैं:—

तदुपरागापेक्षितत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७॥

पद०—तत्। उपरागापेक्षितत्वात्। चित्तस्य। वस्तु। ज्ञाताज्ञातम्।

पदा०—(वस्तु, ज्ञाताज्ञातम्) बाह्य पदार्थ कभी ज्ञात होता है और कभी अज्ञात होता है वह (चित्तस्य) चित्त के (तत्) उस वस्तु विषयक (उपरागापेक्षितत्वात्) सम्बन्ध की अपेक्षा रखने से होता है।

भाष्य—जिस समय विषय का चित्त के साथ इन्द्रिय द्वारा सम्बन्ध होता है तब वह ज्ञात होता है और अन्य समय अज्ञात होता है।

तात्पर्य्य यह है कि अयस्कान्तमणि की समीपता से आकृष्ट हुए लोह की भांति परिणामस्वभाव चित्त इन्द्रियों द्वारा आकृष्ट हुआ विषय के सम्बन्ध से समानाकार होजाता है तब वह विषय ज्ञात, और जब सम्बन्ध न होने से समानाकार नहीं होता तब वह अज्ञात कहलाता है।

सं०—चित्त से भिन्न विषय का स्थापन करके चित्त को परिणामी कथन किया, अब आत्मा को चित्त से भिन्न अपरिणामी कथन करते हैं:—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

पद०—सदा । ज्ञाताः । चित्तवृत्तयः । तत्प्रभोः । पुरुषस्य । अपरिणामित्वात् ।

पदा०—(तत्प्रभोः) चित्त के स्वामी को (चित्तवृत्तयः) चित्त की वृत्तियां (सदा ज्ञाताः) सर्वदा ज्ञात रहती हैं (पुरुषस्य) पुरुष के (अपरिणामित्वात्) अपरिणामी होने से ।

भाष्य—यदि चित्त का स्वामी साक्षीभूत पुरुष चित्त की भांति परिणामी हो तो पुरुष की विषयीभूत जो चित्तवृत्तियां हैं वह भी चित्त के विषय घटादि की भांति ज्ञात और अज्ञात हो जावेंगी, परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि पुरुष की वृत्तियां सदा ही ज्ञात रहती हैं अज्ञात नहीं, जैसाकि अहं सुखी, अहं दुखी, इत्यादि स्थलों में कदापि यह सन्देह नहीं होता कि मैं सुखी हूँ अथवा नहीं, इससे पाया गया कि परिणामिचित्त से भिन्न ज्ञाता पुरुष अपरिणामी है ।

सं०—अब यहां यह शङ्का होती है कि चित्त ही स्वतः प्रकाश है और वह क्षणिक है उससे भिन्न अपरिणामी पुरुष कोई नहीं ? उत्तरः—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

पद०—न । तत् । स्वाभासं । दृश्यत्वात् ।

पदा०—(दृश्यत्वात्) जड़ होने के कारण (तत्) वह चित्त (स्वाभासं) स्वयं प्रकाश (न) नहीं है ।

भाष्य—यहां क्षणिक विज्ञानवादी यह शङ्का करता है कि अग्नि की भांति स्वयं प्रकाश होने से चित्त विषय तथा अपने

आपका प्रकाशक हो सकता है फिर चित्त से भिन्न अपरिणामी पुरुष के मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि घटपटादि पदार्थों की भांति परिणामी होने से चित्त का स्वरूप जड़ है, इसलिये चित्त को स्वयं प्रकाश मानना युक्तिविरुद्ध है, और चित्त से भिन्न चेतनस्वरूप एकरस पुरुष ही स्वयं प्रकाश रूप सर्वचित्तवृत्तियों का साक्षी है ।

सं०—अब विज्ञानवादी के मत में और दोष कहते हैं:—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

पद०—एकसमये । च । उभयानवधारणम् ।

पदा०—(एकसमये च) और एक ही काल में (उभयानवधारणम्) चित्त और विषय का ग्रहण नहीं हो सकता ।

भाष्य—चित्त को स्वभासक तथा विषयभासक मानने से क्षणिक विज्ञानवादी के मत में चित्त तथा विषय का एक ही काल में प्रकाश होना युक्तिविरुद्ध है ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रथम क्षण में वस्तु की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में क्रिया और तृतीय क्षण में किसी कार्य्य का सम्पादन करने से वह वस्तु "कारक" नाम से कही जाती है यह सिद्धान्त है, परन्तु क्षणिक विज्ञानवादी का यह मत है कि "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते"=वस्तु की उत्पत्ति ही क्रिया तथा कारक रूप है, यह नियम नहीं कि प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में क्रिया, तृतीय क्षण में कारक हो ।

विज्ञानवादी का उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं कि भिन्न भिन्न व्यापार द्वारा भिन्न भिन्न कार्य्य की उत्पत्ति होने के नियम

से एक ही क्षण में उत्पन्न हुआ चित्त अपनी उत्पत्ति रूप क्रिया द्वारा अपने स्वरूप तथा विषय के स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकता और उसी उत्पत्ति क्षण में उत्पत्तिरूप व्यापार के बिना चित्त का अन्य कोई व्यापार नहीं कि जिस से वह विषय का निश्चय कर सके और दूसरे क्षण में चित्त की सत्ता न होने से तुम्हारे मत में विषय का निश्चय होना युक्तिविरुद्ध ही नहीं किन्तु असम्भव है, इसलिये एक काल में चित्त तथा विषय का प्रकाश न होने के कारण चित्त से भिन्न साक्षी पुरुष का मानना ही युक्त है।

सं०—अब चित्त के प्रकाशक अन्य चित्त मानने में दोष कहते हैं:—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥२१॥

पद०—चित्तान्तरदृश्ये। बुद्धिबुद्धेः। अतिप्रसङ्गः। स्मृति-सङ्करः। च।

पदा०—(चित्तान्तरदृश्ये) पूर्वचित्त को चित्तान्तर का विषय मानकर (बुद्धिबुद्धेः) उस चित्तका अन्य चित्त द्वारा ग्रहण मानने से (अतिप्रसंगः) अनवस्था होगी (च) और (स्मृतिसङ्करः) स्मृतियों का परस्पर संकर होगा।

भाष्य—यहां विज्ञानवादी का यह कथन है कि जब पूर्वक्षण चित्त को उत्तर क्षण चित्त विषय कर लेगा तब पूर्वोत्तर चित्तों के विषय विषयी भाव सिद्ध होने से चित्त को प्रकाश करने के लिये भिन्न साक्षी चेतन मानना निष्फल है ? इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने से आप के मत में अनवस्था दोष तथा स्मृतिसङ्कर बना रहेगा अर्थात् प्रथम क्षण में नीलघट को विषय करनेवाला एक चित्त उत्पन्न हुआ द्वितीय क्षण में नीलघट विषयक चित्त को

विषय करनेवाला दूसरा चित्त उत्पन्न हुआ एवं उस चित्त का प्रकाशक तीसरा और तीसरे का प्रकाशक चौथा और चौथे का पांचवा इत्यादि, एक ही नीलघट के अनुभवकाल में अनेक चित्तों की निरन्तर धारा से अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है।

दूसरी बात यह है कि अनुभव के अनुसार स्मृति नियम से संस्कारों के उद्बोधकाल में अनन्तचित्तों की अनन्तस्मृतियां एक ही काल में उत्पन्न होंगी अर्थात् यह स्मृति नीलघट विषयक है यह नीलघट के प्रकाशक चित्त की स्मृति है और यह नीलघट के प्रकाशक चित्त को प्रकाश करनेवाली अन्य चित्त की स्मृति है। इस प्रकार विवेक न होने से एक काल में प्रकट हुईं अनन्त स्मृतियों का सङ्करूप दोष होगा अर्थात् वह आपस में मिल जायेंगी, इस लिये चित्त का प्रकाशक अन्य चित्त मानना ठीक नहीं।

सं०—चेतन पुरुष किस प्रकार चित्त का प्रकाश करता है अब इस बात का निरूपण करते हैं:—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पद०—चितेः। अप्रतिसंक्रमायाः। तदाकारापत्तौ। स्वबुद्धिसंवेदनम्।

पदा०—(अप्रतिसंक्रमायाः) इन्द्रियों की भांति विषयों के सम्बन्ध से रहित (चितेः) चेतनस्वरूप पुरुष (तदाकारापत्तौ) स्व-सम्बन्ध वाले चित्त के समानाकार को प्राप्त होकर (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपने चित्त को प्रकाशता है।

भाष्य—यहां यह शङ्का होती है कि चित्त को स्वयं प्रकाश तथा अन्य चित्त से प्रकाशित न मानकर चिद्रूप पुरुष को चित्त का प्रकाशक मानने से उसमें सङ्गदोष की प्राप्ति होगी अर्थात् जैसे इन्द्रिय द्वारा चित्त विषय के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होकर विषय

को प्रकाशता है इसी प्रकार पुरुष भी चित्त के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होकर चित्त को प्रकाशित करेगा, एवं निर्विकार पुरुष में प्रकाशरूप क्रिया होने से पुरुष की असङ्गता का भङ्ग होजायगा, इसका समाधान इस प्रकार है कि जैसे विषयों को प्रकाशने के लिये चित्त का इन्द्रिय द्वारा विषयों में संचार होता है इस प्रकार चित्त को प्रकाशने के लिये साक्षी पुरुष का चित्त में सञ्चार नहीं माना गया किन्तु समीपतामात्र से वृत्तिविशिष्ट चित्त के साथ पुरुष का सम्बन्ध होता है उस चित्तविशिष्ट पुरुष को चित्त के समानाकार होने से चित्त का द्रष्टा कहा जाता है दृश्य तथा तद्भावापन्न चित्त को ही द्रष्टा माना है वास्तव से पुरुष में द्रष्टापन नहीं।

सं०—अब चित्त की अनेकरूपता का निरूपण करते हैं:—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

पद०—द्रष्टृदृश्योपरक्तं । चित्तं । सर्वार्थम् ।

पदा०—(चित्तं) चित्त (द्रष्टृदृश्योपरक्तं) पुरुष और विषय के साथ सम्बन्धवाला होने से (सर्वार्थम्) अनेक रूप है।

भाष्य—जैसे शुद्धस्फटिकमणि दोनों भागों में स्थित हुए रक्त तथा नील पुष्प के प्रतिविम्ब से तीन प्रकार की भासती है अर्थात् एक ओर से अपने शुद्धरूप से श्वेत और दूसरी ओर से अपने श्वेत-रूप सहित रक्त तथा तीसरी ओर से नील प्रतीत होती है, इसी प्रकार दृश्य और पुरुष के मध्य में स्थित हुआ विषय चित्त उन दोनों के सम्बन्ध से ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्यरूप से प्रतीत होता है।

तात्पर्य्य यह है कि "घटमहं जानामि"—मैं घट को जानता हूं, यह सबके अनुभवसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान केवल दृश्यघटका प्रतीति-जनक ही नहीं किन्तु विषय और विषयी की भी प्रतीति कराता है अर्थात् एक ही चित्त अपने स्वरूप से ग्रहणाकार और विषय के

सम्बन्ध से ग्राह्याकार तथा पुरुष के सम्बन्ध से ग्रहीताकार भासता है।

भाव यह है कि पूर्वोक्तज्ञान में एक ही चित्त द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन रूप से प्रतीत हुआ अनेकरूप होता है इसलिये चित्त की अनेकरूपता का विवेक न होने से बौद्धों ने चित्त को ही विषय तथा आत्मा मान लिया है यह उनकी सर्वथा भ्रान्ति है।

सं०--अब चित्त से भिन्न पुरुष की सिद्धि में अन्य हेतु कथन करते हैं:--

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।२४।

पद०--तत्। असंख्येयवासनाभिः। चित्रम्। अपि। परार्थम्। संहत्यकारित्वात्।

पदा०- (तत) वह चित्त (असंख्येयवासनाभिः) नाना वासनाओं से (चित्रम्, अपि) वासित हुआ भी (संहत्यकारित्वात्) विषय तथा इन्द्रियों के साथ मिलकर कार्य करने से (परार्थम्) पुरुष के लिये है।

भाष्य—यहां शङ्का यह होती है कि नाना प्रकार की वासनाओं से विचित्र हुये चित्त को ही आत्मा मानना चाहिये क्योंकि वह वासनाएं उसके लिये भोग सम्पादन करती हैं। इसका समाधान यह है कि भित्ति आदि से मिले हुये गृह की भांति चित्त भी देह इन्द्रियादिकों के साथ मिलकर पुरुष के अर्थ भोग तथा मोक्ष सम्पादन करने से परार्थ है स्वार्थ नहीं, इसलिये वह आत्मा नहीं हो सकता।

तात्पर्य्य यह है कि जिसके लिये चित्त भोग तथा मोक्ष सम्पादन करता है वह चित्त से भिन्न भोक्ता ही आत्मा है।

सं०—पूर्वोक्त युक्तियों द्वारा चित्त से भिन्न आत्मा को सिद्ध करके अब विवेकी पुरुष की कृतकृत्यता कथन करते हैं:—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

पद—विशेषदर्शिनः। आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।

पदा०—(विशेषदर्शिनः) विवेकी पुरुष की (आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः) आत्मभावभावनानिवृत्त हो जाती है।

भाष्य—गुरु के उपदेश द्वारा पूर्वोक्त योगाङ्गों के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होने पर प्रकृति पुरुष के विवेकसाक्षात्कारवाले पुरुष की "मैं कौन हूं, क्या था, किसप्रकार से संसार में आया, भविष्यत्काल में कहां जाऊंगा अथवा मेरा स्वरूप क्या होगा" इस रीति से अपने जन्म की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि आत्माका साक्षात्कार होने से चित्त सम्बन्धी जन्मादिक विचित्र परिणाम के निश्चय से जन्मादि भावना की निवृत्तिद्वारा पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

सं—अब विवेकी पुरुष के चित्त की अवस्था का निरूपण करते हैं:—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

पद०—तदा। विवेकनिम्नं। कैवल्यप्राग्भारम्। चित्तम्।

पदा०—(तदा) जन्मादि भावना की निवृत्ति होने से (चित्तम्) चित्त (विवेकनिम्नं) विवेक मार्ग को प्राप्त हुआ (कैवल्यप्राग्भारम्) कैवल्य के अभिमुख होजाता है।

भाष्य—आशय यह है कि अज्ञान के कारण जिस चित्त का विषयों की ओर प्रवाह था विवेकज्ञान के उदय होने से उसी चित्त का प्रवाह मोक्ष की ओर होजाता है।

सं०—अब योगी के चित्त की समाधि से उत्थान होकर स्नानादिकों में प्रवृत्ति कथन करते हैं:—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

पद०—तच्छिद्रेषु । प्रत्ययान्तराणि । संस्कारेभ्यः ।

पदा०—(संस्कारेभ्यः) व्युत्थान के संस्कारों से (तच्छिद्रेषु) विवेकयुक्त चित्त के अन्तरालों में (प्रत्ययान्तराणि) अन्य प्रतीतियां उदय होती हैं ।

भाष्य—यहां यह सन्देह उत्पन्न होता है कि विवेकप्राप्ति के अनन्तर चित्तवृत्ति के बहिर्मुख न होने से योगी की स्नानादि क्रिया सिद्ध नहीं होगी ? इसका उत्तर यह है कि विवेकप्राप्ति होने पर भी क्षीयमाण बीजरूप संस्कारों द्वारा चित्त के विवेकाभावरूप अवसर में "मैं स्नान करता हूं" अथवा "मैं भोजन करता हूं" इत्यादि अन्य प्रतीतियां उदय होने से योगी के चित्त की स्नानादि क्रिया में प्रवृत्ति होती है ।

सं०—अब विवेक उदय के अनन्तर अन्य विरोधी प्रतीतियों को उत्पन्न करनेवाले व्युत्थान संस्कारों की निवत्ति का उपाय कथन करते हैं:—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

पद०—हानम् । एषाम् । क्लेशवत् । उक्तम् ।

पदा०—(एषाम्) इन व्युत्थान सस्कारों की (हानम्) निवृत्ति (उक्तं) पूर्वाचार्य्यों ने (क्लेशवत्) क्लेशनिवृत्ति की भांति कथन की है ।

भाष्य—जैसे क्रियायोग के अनुष्ठान द्वारा निर्बल हुये अविद्यादि क्लेश विवेकाग्नि से दग्ध हो जाते हैं वैसे ही व्युत्थान संस्कार भी विवेक के उदय होने से निवृत्त हो जाते हैं इनकी निवृत्ति के लिये किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब संस्कारों के नाशक प्रसंख्यान में भी इच्छा न रखनेवाले पुरुष को धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति कथन करते हैं:—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

पद—प्रसंख्याने । अपि । अकुसीदस्य । सर्वथा । विवेक-ख्यातेः । धर्ममेघः । समाधिः ।

पदा०—(प्रसंख्याने, अपि, अकुसीदस्य) विवेकज्ञान में भी फल की इच्छा से रहित योगी को (सर्वथा, विवेकख्यातेः) निरन्तर विवेकज्ञान के उदय होने से (धर्ममेघः, समाधिः) धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—जब योगी परिणामादि दोषों के देखने से क्लेश मानता हुआ विवेकज्ञानद्वारा किसी फल की इच्छा नहीं करता तब उसको निरन्तर अभ्यास करने से व्युत्थानसंस्कारों के निरोधपूर्वक विवेक द्वारा ज्ञान परिपक्व अवस्थारूप धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है ।

तात्पर्य्य यह है कि सम्प्रज्ञातसमाधि के फलरूप विवेकज्ञान की परमसीमा का नाम "**धर्ममेघ समाधि**" है ।

इसी समाधिद्वारा व्युत्थान संस्कारों का सर्वथा निरोध होकर ज्ञानप्रसाद नामक परवैराग्य उदय होता है और यह विवेकज्ञान के संस्कारों का निरोध करता हुआ असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कराता है ।

सं०—अब धर्ममेघ समाधि का फल कथन करते हैं:—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

पद०—ततः । क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

पदा०—(ततः) धर्ममेघ समाधि से (क्लेशकर्मनिवृत्तिः) वासना सहित अविद्यादि क्लेश तथा पुण्य पाप रूप कर्म निवृत्त हो जाते हैं।

सं०—अब पूर्वोक्त समाधि सम्पन्न जीवनमुक्त के चित्त की विलक्षणता निरूपण करते हैं:—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

पद०—तदा । सर्वावरणमलापेतस्य । ज्ञानस्य । आनन्त्यात् । ज्ञेयम् । अल्पम् ।

पदा० —(तदा) अविद्यादि क्लेश तथा शुभाशुभ कर्मों की निवृत्ति काल में (सर्वावरणमलापेतस्य) अविद्यादि सब मलों से रहित हुये (ज्ञानस्य) चित्त के (आनन्त्यात्) अनन्त प्रकाश से (ज्ञेयम्, अल्पम्) सर्व विषय परिछिन्न हो जाते हैं।

भाष्य—मेघों से आच्छादित हुए चन्द्रमण्डल की भांति जब स्वभाव से प्रकाशरूप चित्त अविद्यादिमलों से आवृत्त हुआ सम्पूर्ण विषयों का प्रकाश नहीं कर सकता तब धर्ममेघ समाधिद्वारा सर्व अविद्यादि मलों की निवृत्ति होजाने से शरद ऋतु के चन्द्र समान योगी का चित्त अनन्त प्रकाशयुक्त हुआ सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात् कर लेता है इनके साक्षात्कार करने से योगी के लिये सर्व विषय अल्प होजाते हैं अर्थात् कोई ऐसा पदार्थ नहीं रहता जिसको योगी का चित्त साक्षात्कार न कर सके।

तात्पर्य्य यह है कि धर्ममेघसमाधि को परमकाष्ठारूप सीमा का ज्ञानप्रसाद नाम परवैराग्य द्वारा हस्तामलकवत् साक्षात्कार करता हुआ तथा विकारों में परिणामादि दोषों को देखता हुआ योगी का चित्त परम निर्मल होजाता है, फिर उसको इच्छा का विषय कुछ भी शेष नहीं रहता। यही ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य, व्युत्थान तथा सम्प्रज्ञातसमाधि के संस्कारों का सर्वथा निरोध करता हुआ योगी के चित्त को असम्प्रज्ञातसमाधि में लगाता है।

सं०—अब धर्ममेघ समाधि सम्पन्न योगी के पुनर्जन्म का अभाव कथन करते हैं:—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

पद०— ततः । कृतार्थानां । परिणामक्रमसमाप्तिः । गुणानाम् ।

पदा०—(ततः) धर्ममेघ समाधि के उदय होने से (कृतार्थानां गुणानाम्) कृतप्रयोजन हुये गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) कार्योत्पादनरूप परिणाम क्रम की समाप्ति होती है।

भाष्य—जब तक सत्त्वादि गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति नहीं होती तबतक योगी को पुनर्जन्म की प्राप्ति निरन्तर बनी रहती है अर्थात् तीनों गुण निरन्तर देह इन्द्रियादिकों को उत्पन्न करते रहते हैं परन्तु धर्ममेघ समाधि के उदय होने से गुणों का प्रयोजन समाप्त होजाता है अर्थात् जिस योगी के तीनों गुण धर्ममेघ समाधि को उत्पन्न करके कृतकृत्य हो चुके हैं उसके लिये पुनः देह इन्द्रियादि सङ्घात को उत्पन्न नहीं कर सकते।

तात्पर्य्य यह है कि धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति से योगी का पुनर्जन्म नहीं होता।

सं०—अब गुणों के परिणामक्रम का निरूपण करते हैं:—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

पद०—क्षणप्रतियोगी । परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः । क्रमः ।

पदा०—(क्षणप्रतियोगी) क्षणों के सम्बन्धवाली (परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) तथा परिणाम की प्राप्ति से अनुमान करने योग्य (क्रमः) गुणों की अवस्था विशेष को क्रम कहते हैं।

भाष्य—पूर्व धर्म के तिरोभाव द्वारा अन्य धर्म के आविर्भाव-रूप परिणाम का निरूपण विभूतिपाद में कर आये हैं अब इस सूत्र में उसके क्रम का स्वरूप दिखलाते हैं।

क्षणों की अनन्तधारा को आश्रय करनेवाले परिणाम के निरन्तर प्रवाह का नाम "क्रम" और इसी को 'गुणपरिणामक्रम" भी कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि बक्स में चिरकाल से रखे हुये वस्त्रों की जीर्णता एक ही काल में उत्पन्न नहीं होती किन्तु सूक्ष्मतः आदि क्रम से उत्पन्न होकर पश्चात् अत्यन्त स्थूलरूप में होजाती है और सब के अनन्तर होनेवाली अत्यन्त जीर्णता से अनुमान किया जाता है कि इस वस्तु की जीर्णता प्रथम अत्यन्त सूक्ष्म हुई, पश्चात् बढ़कर इस अवस्था को प्राप्त होगई है इसलिये यह क्रम प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं।

इस से सिद्ध हुआ कि अनुमान द्वारा जाने हुये सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर आदि भेद से वस्त्र की जीर्णता के पूर्वोत्तर भाव का नाम ही क्रम है अर्थात् धर्म तथा लक्षण परिणाम का क्रम प्रत्यक्षरूप से प्रतीत होता है परन्तु अवस्था परिणाम का क्रम अनुमेय है।

सार यह है कि नित्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं, एक परिणामी नित्य और दूसरे कूटस्थनित्य, परिणामी नित्य प्रकृति है और कूटस्थनित्य चेतन है। जिसके स्वरूप का नाश न हो उसको नित्य कहते हैं।

सं०—अब कैवल्य का स्वरूप कथन करते हैं:—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

पद०—पुरुषार्थशून्यानां । गुणानां । प्रतिप्रसवः । कैवल्यं । स्वरूपप्रतिष्ठा । वा । चितिशक्तिः । इति ।

पदा०—(पुरुषार्थशून्यानां, गुणानां) पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि द्वारा परिणत गुणों का (प्रतिप्रसवः) अपने कारण में लय होने को (कैवल्यं) कैवल्य कहते हैं (वा) अथवा (स्वरूपप्रतिष्ठा) अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (चितिशक्तिः) चेतनस्वरूप पुरुष की बुद्धि के सम्बन्ध से रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित होना कैवल्य है, (इति) शब्द शास्त्र की समाप्ति का बोधक है ।

भाष्य—जब व्युत्थान , समाधि तथा निरोध के संस्कार चित्त में लीन होजाते हैं तब चित्त का अहङ्कार में, अहङ्कार का महत्तत्त्व में तथा महत्तत्त्व का प्रकृति में लय होना '**प्रतिप्रसव**" कहलाता है ।

जब चेतनस्वरूप पुरुष का बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं रहता तब उसकी अपने स्वरूप में स्थिति को "**स्वरूपप्रतिष्ठा**' कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि कार्य्यकारणभाव को प्राप्त हुये तीनों गुण पुरुष के लिये भोग वा मोक्ष का सम्पादन करने के अनन्तर अपने-अपने कारण में लीन होजाते हैं । कार्य्यकारणभाव को प्राप्त हुये तीनों गुणों का पुरुष के भोग मोक्ष का सम्पादन करने के अनन्तर अपने अपने कारण में लय रूप प्रतिप्रसव द्वारा लिङ्ग शरीर के भङ्ग होजाने का नाम "**कैवल्य**" है और लिङ्ग शरीर के भङ्ग होने के अनन्तर बुद्धि वृत्ति के समानाकार न होने से अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को भोगना पुरुष का कैवल्य है , क्योंकि संसार दुःख से रहित होकर पुरुष ही ब्रह्मानन्द का भोक्ता होसकता है , इसलिये प्रधान कैवल्य के अनन्तर पुरुष कैवल्य का निरूपण किया गया है ।

ननु—इस शास्त्र में स्वरूपप्रतिष्ठा का नाम "**मुक्ति**" है

अथवा संस्कार मन में लय होजाते हैं, मन अस्मिता में, अस्मिता महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रधान में, इस प्रकार बुद्धि आदि गुणों के लय का नाम "मुक्ति" है और न्यायशास्त्र में "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" न्याय० १। २२=दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम "मुक्ति" है। वैशेषिकशास्त्र में "तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" वै० ५। २। १८=सञ्चित कर्मों का ज्ञान द्वारा अभाव होने से, प्रारब्ध कर्मों के भोगने से और क्रियमाण कर्मों का दोषों की निवृत्ति से संयोगाभाव अर्थात् मन आदिकों के सम्बन्ध का अभाव होने पर जो अप्रादुर्भाव=जन्म का न होना है उसका नाम "मुक्ति" है। नवीननैयायिकों के मत में एकविंशति दुःखों के नाश का नाम "मुक्ति" है, वह दुःख यह हैं :–

(१) शरीर (२) श्रोत्र (३) त्वक् (४) चक्षु (५) रसना (६) घ्राण (७) मन, उक्त ६ इन्द्रियों के ६ विषय और इनके श्रावणादि ६ ज्ञान, सुख और दुःख। सांख्यशास्त्र में आध्यात्माधिदैविकादि तीनों दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम "मुक्ति" है। नवीनवेदान्तियों के मत में मिथ्याभूत संसार की निवृत्ति और स्वात्मभूत ब्रह्म की प्राप्ति का नाम "मुक्ति" है। रामानुज के मत में ईश्वर के गुणों को ज्ञान कर्म के समुच्चय द्वारा प्राप्त होने का नाम "मुक्ति" है। शून्यवादियों के मत में शून्यभाव की प्राप्ति का नाम "मुक्ति" है।

एवं वैदिक और अवैदिक लोग अनेक प्रकार से मुक्ति विषय में विप्रतिपत्तिग्रस्त हैं, फिर कैसे निश्चित करें कि किस मत की मुक्ति ठीक है और कौन कौन शास्त्र वेदोक्त मुक्ति को मानता है?

इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि वस्तुगत्या कैवल्य ही

"मुक्ति" है। कैवल्य नाम स्वरूपनिष्पत्ति का है, जब जीव अपने स्वरूप से सर्वथा शुद्ध होता है तो उसको कैवल्यपद की प्राप्ति होती है, अविद्याग्रस्त को कैवल्यपद की प्राप्ति कदापि नहीं होती, इसी अभिप्राय से योगियों ने मुक्तिपद का नाम कैवल्य रक्खा है, जैसा कि "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छा० इस उपनिषद्-वाक्य में मुक्त पुरुष का शुद्धस्वरूप वर्णन किया गया है, एवं "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" यजु० ३१। १८ इस वेद मंत्र में भी कैवल्य का नाम ही मुक्ति है क्योंकि मृत्युमत्येति के अर्थ यह हैं कि परमात्मज्ञान से जीव मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, मृत्यु का उल्लङ्घन करने के अर्थ जीव की स्वरूपमात्र स्थिति के हैं, इसी को कैवल्य कहते हैं इसी भाव से सांख्यशास्त्रकार ने आध्यात्मादि दुःखों की निवृत्ति का नाम मुक्ति रखा है और इसी भाव से न्याय-शास्त्र के कर्त्ता महर्षि गोतम ने दुःख के अभाव को मोक्ष कहा है। यहां उक्त शास्त्रकार दुःखाभावमात्र ही मुक्ति नहीं मानते किन्तु दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमसुख की प्राप्ति को मुक्ति मानते हैं जैसा कि:—"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" सां० ५। ११६ इत्यादि सूत्रों में ब्रह्मभाव की प्राप्ति का नाम मोक्ष माना है और वह ब्रह्मभाव की प्राप्तिरूप ब्रह्मानन्द का उपभोग दुःखात्यन्तनिवृतिपूर्वक ही हो-सकता है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय स न्याय वैशेषिकादिशास्त्रों में दुःखात्यन्तनिवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है, एवं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग की दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपकैवल्य और पूर्वोत्तर मीमांसाकार महर्षि जैमिनि और व्यास जी की ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति का वैदिकमुक्ति से कोई विरोध नहीं।

वैदिक मुक्ति "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" यजु० ३१। १८ इत्यादि

मन्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णन की गई है कि ब्रह्मज्ञान से ही मुक्ति होती है अन्यथा नहीं, यही ब्रह्मभाव अथर्ववेद के इसमन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है कि :—

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद्ब्राह्मणं महत् ॥ अथ० १० । ८ । ३८

अर्थ—जिस सूत्रात्मा ब्रह्म में सम्पूर्ण प्रजा ओतप्रोत है उस सर्वात्मभूत ब्रह्म के सूत्रपन अर्थात् सर्वाधारपन को मैं जानता हूं, ऐसा ज्ञान महद्ब्राह्मण=ब्रह्मभाव है अर्थात् ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करना है। इसी आनन्द के उपभोग को "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है कि जिज्ञासु सर्वज्ञ ब्रह्म के भावों को प्राप्त होकर उसके स्वरूपानन्द का उपभोग करता है और इसी बात को "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" ब्र० सू० ४ । ४ । २१ में वर्णन किया है कि ब्रह्मानन्द के उपभोग करने मात्र से ही जीव ब्रह्म की मुक्ति में समता होती है। इस प्रकार षट्शास्त्रकारों का मुक्ति विषय में मन्तव्य एक है।

और जो एकविंशति दुःखों का ध्वंसरूप मुक्ति नवीननैयायिकों ने मानी है और सब विशेषताओं को मिटाकर पाषाण के तुल्य होजाने का नाम मुक्ति जो आधुनिक वेदान्तियों ने रक्खा है वह शून्यवाद का अनुकरण होने से सर्वशास्त्र विरुद्ध है क्योंकि शास्त्र में जीव का स्वरूपभूत ज्ञान नित्य माना गया है जैसा कि "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" वै० ३ । १ । १९ इस स्थल में वर्णन किया है कि आत्मा और मन के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह जीव के स्वरूपज्ञान से भिन्न है इस तत्त्व को न समझकर न्याय वैशेषिक के पढ़नेवाले यह मान बैठते हैं कि आत्मा में

ज्ञान मन के संयोग से ही उत्पन्न होता है और जब मन का संयोग नहीं होता तब उसमें कोई ज्ञान नहीं, ऐसा मानना शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है और आधुनिक वेदान्ती आत्मा के ज्ञान को उपाधि से मानते है शुद्ध में ज्ञातृत्व नहीं मानते, उनका ऐसा मानना वेदान्तशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है जैसा कि "ज्ञोऽत एव" ब्र० सू० २।३।१९ इस सूत्र में महर्षि व्यास ने जीव को ज्ञाता माना है और मायावादी इसके अर्थ अन्यथा करते हैं, क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान मानने से अर्थात् आत्मा में ज्ञातृत्व मानने से "मैं हूं" इस ज्ञान को सत्य मानना पड़ता है और वास्तव में उक्त ज्ञान उन के मत में रज्जु सर्प के समान भ्रम मात्र है, इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा मूल ग्रन्थों के छोड़ने से सर्वथा भङ्ग होगई है। जैसा कि श्रीभाष्याचार्य्य स्वामी रामानुज वैशेषिक के खण्डन में यह लिखते हैं कि "उत कणभुगभिमतपाषाणकल्पस्वरूपमचित्स्वरूपमेवागन्तुकचैतन्यगुणकम्" क्या कणाद के माने हुये पाषाण के तुल्य जीवात्मा जड़स्वरूप आगन्तुक ज्ञान गुणवाला है? इस लेख से यह पायागया है कि मूलग्रन्थों की प्रथा भूलजाने से लोगों ने महर्षि कणाद को जड़वादी बना दिया है, इसका कारण यही है कि आधुनिक लोगों ने अवैदिक टीका लिखकर शास्त्रों के तत्त्व को अन्यथा कर दिया है, यदि मूलशास्त्रों पर ध्यान दिया जाता तो ऐसा अनर्थ कदापि नहीं होता, क्योंकि मूलसूत्रों में महर्षि कणाद ने विशेष ज्ञान की उत्पत्ति मानी है, स्वरूपभूत ज्ञान की नहीं, इस बात को हम वैशे० ३।१।१९ सूत्र में कथन कर आये हैं, वैदिक सिद्धान्त में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" ऋ० २।३।१७ इत्यादि मन्त्र जीवात्मा को चैतन्य कथन करते हैं और "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" कठ० ५। २१ इत्यादि औपनिषद वाक्य भी इसी की पुष्टि करते हैं अर्थात्

ज्ञानस्वरूप को ही ज्ञान गुणवाला कथन करते हैं जैसा कि प्रकाश-स्वरूप सूर्य्य को प्रकाश का आश्रय कथन किया जाता है, अधिक क्या सांख्य, योग वेदान्त तथा न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, यह षट्-शास्त्र ज्ञानस्वरूप जीवात्मा को ही ज्ञान गुणवाला कथन करते हैं और ऐसा ही औपनिषद लोगों ने माना है जैसा कि "यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" वृहदा० ४। १८=जो यह समझता है कि मैं सूंघता हूं वह आत्मा है, इस प्रकार जीव के स्वरूपविषयक शास्त्र की प्रक्रिया में कोई भेद नहीं, इसी प्रकार मुक्ति अवस्था में षट्शास्त्रों के मत में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मानन्द के उपभोग करने का नाम मुक्ति है जैसा कि "चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात्" ब्र० सू० ४। ४। ६। "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" ब्र० सू० ४। ४। ५। इत्यादि सूत्रों में यह वर्णन किया है कि जीव मुक्ति अवस्था में चेतन स्वरूप से विराजमान होता है और ब्रह्म के धर्मों को धारण करने से मुक्त होता है, यही भाव "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छा० ८। ३। ४ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में निरूपण किया गया है और इसी भाव का वर्णन "कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः" इस सूत्र में लिखा गया है कि जीवात्मा शुद्ध होकर अपने शुद्धस्वरूप से विराजमान होता है और उसके स्वरूप की शुद्धि ईश्वरप्राप्ति के बिना कदापि नहीं होसकती, इसी बात को "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" यो० १। ३ "तज्जपस्तदर्थभावनम्" यो० १। १८ "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" यो० १। ३२ इत्यादि अनेक सूत्रों में परमात्मस्वरूप के अवलम्बन से जीवात्मा की शुद्धि कथन की गई है। इस प्रकार तद्धर्मतापत्तिरूप ईश्वरप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिरूप स्वरूपशुद्धि ही कैवल्य है।

यह वह कैवल्य है जिसको पाकर योगी कृतकृत्य होजाता है,

इस कैवल्य का एकमात्र योग ही साधन है, इसको प्राप्त होकर योगी इस प्रकार से ब्रह्मानन्द में निमग्न होता है कि फिर उसको दुःख का लेश भी नहीं रहता, फिर उसको एकमात्र परमात्मा ही पूर्ण प्रतीत होता है जैसा कि :—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ बृहदा० ५ । १ । १

इस उपनिषद्वाक्य में वर्णन किया गया है कि उसका दृश्य एकमात्र पूर्ण होता है और उस पूर्ण की पूर्णता से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पूर्ण समझता है, उस पूर्ण के पूर्णभाव को धारण करके योगी इस सर्वोपरि कैवल्यभाव को धारण करता है। उक्त कैवल्य में जो आनन्द होता है वह निम्नलिखित छन्दों में प्रतिपादन किया गया है :—

सवैया

(१)

यम नेम सुआसन प्राण यमं प्रतिहार बली अरु ध्यान अपारो ।
ये सब साधन सिद्ध करो तब योग विभूति का तत्त्व विचारो ॥
भोग तजो सुभजो पथयौगिक या विध से प्रभु रूप निहारो ।
जो इन से जगदीश मिले तब तो मुनि आर्य्यं की मति धारो ॥

(२)

पञ्चकलेश नहीं जिसमें अरु जीवन जाति को प्राण अधारो ।
व्याप रहा सब के घट में पुन कुञ्जर कीटहिं देत अहारो ॥

सूर शशी जिसकी छवि से नभमण्डल मण्डित रूप अपारो।
सो चिद्वारिधि लीन भयो मन यौगिक पंथ को मारग न्यारो॥

(३)

जिनके घट योग प्रभाव भया उनके मति दोष भये सब भङ्गा।
क्षुद्र नदी जल शुद्ध भवे जब नीर अगाध मिले वह गङ्गा॥
ऊंचन की सत्सङ्गति से जस नीच हुँ जाय के होत उतङ्गा।
मायिक मोह मिटा मन का चिद्वारिधि मांह भया इकरङ्गा॥

(४)

रूप अनूप धरे नित नूतन सो तुम जानहुँ अञ्जन माया।
आय न जाय बसे न नशे वह है चिद्रूप निरञ्जन राया॥
व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनावृत है घन सैधव के सम गाया।
सो चिद्वारिधि रूप भए अब योग प्रभाव को ये फल पाया॥

(५)

केवल रूप भया जन जो वह ना परलोक विषे तनु धारे।
देश म्लेच्छ तजे तनु को उत देव नदी तट में तनु डारे॥
हिम कन्दर सुन्दर त्याग करे उत जाय मरे वह सिन्धु किनारे।
दोष क्लेश मिटे सगरे सुख सिन्धु पयोनिधि मांह पधारे॥

(६)

जाहि निमित्त करी तपसा और जाहि निमित्त धरे व्रत भारी।
साधन योग किये पुन जाहित जाहित जाप किये श्रुति चारी॥
लक्ष्य अलक्ष्य धरा प्रभु जाहित जाहि निमित्त भये ब्रह्मचारी।
सो भवसागर पार भये अब, योग प्रभाव भया बलकारी॥

(७)

चिद्रूप प्रकाश भया अब पूर्ण और सभा तम मोह विनाशे।
पूरण रूप निरूप चिति उसकी प्रतिभा हमको अब भासे ॥
भूल अबोध रहे जिन में दिन दो एक मांहि मिटें व तमाशे।
त्याग करे इनका जन जो उनके सब शोक क्लेश विनाशे ॥

(८)

भारत मांह कही मुनि व्यास जु योगमति सब पाप विदारे।
भागवती श्रुति आप कथे पुन और कथा को कहो को विचारे ॥
पार भये भवसागर से जिन ने सब यौगिक साधन धारे।
नाह लहें इनकी गति जे वह सीस धुने मद में मतवारे ॥

(९)

सत्त्वादिक गुण गण जिते, भए दृश्य में लीन।
अहो योग की योग्यता, लिया तत्त्व पद चीन ॥

इति श्रीमदार्यमुनिनोपनिबद्धे योगार्य्यभाष्ये
चतुर्थः कैवल्यपादः समाप्तः।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

✻ ओ३म् ✻

श्रीपातञ्जल-योगदर्शनम्

अथ समाधिपादः

१ अथ योगानुशासनम् ।

२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

४ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।

५ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

६ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।

७ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

८ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।

९ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

१० अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।

११ अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।

१२ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

१३ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

१४ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

१५ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

१६ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

१७ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः।

१८ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

१९ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

२० श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

२१ तीव्रसंवेगानामासन्नः।

२२ मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

२३ ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

२४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

२५ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

२६ पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

२७ तस्य वाचकः प्रणवः।

२८ तज्जपस्तदर्थभावनम्।

२९ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

३० अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

३१ ३२ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा

३३ वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।

३४ वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

३५ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

३६ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

३७ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

३८ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

३९ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः ।

४० शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

४१ सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।

४२ सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।

४३ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।
४४ स्वाध्यादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।
४५ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।
४६ स्थिरसुखमासनम् ।
४७ प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।
४८ ततो द्वन्द्वानभिघातः ।
४९ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
५० बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।
५१ बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।
५२ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।
५३ धारणासु च योग्यता मनसः ।
५४ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।
५५ ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।

इति द्वितीयः साधनपादः ।। २ ।।

अथ विभूतिपादः

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

४ त्रयमेकत्र संयमः ।

५ तज्जयात्प्रज्ञालोकः ।

६ तस्य भूमिषु विनियोगः ।

७ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।

८ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।

९ व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।

१० तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।

११ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।

१२ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।

१३ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।

१४ शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।

१५ क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।

१६ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।

१७ शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रवि-
भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ।

१८ संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।

१९ प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।

२० न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।

२१ कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-
सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ।

२२ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।

२३ मैत्र्यादिषु बलानि ।

२४ बलेषु हस्तिबलादीनि ।

२५ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।

२६ भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।

२७ चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।

२८ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।

२९ नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।

३० कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।

३१ कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।

३२ मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।

३३ प्रातिभाद्वा सर्वम् ।

३४ हृदये चित्तसंवित् ।

३५ सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।

३६ ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।

३७ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

३८ बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।

३९ उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।

४० समानजयाज्ज्वलनम् ।

४१ श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।

४२ कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते-श्चाकाशगमनम् ।

४३ बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा-वरणक्षयः ।

४४ स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।

४५ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभि-घातश्च ।

४६ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।

४७ ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः

४८ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।

४९ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठा-तृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।

५० तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।

५१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ।

५२ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।

५३ जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।

५४ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।

५५ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।

इति तृतीयः विभूतिपादः ।। ३ ।।

—:o:—

अथ कैवल्यपादः

१ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।

२ जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।

३ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।

४ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।

५ प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।

६ तत्र ध्यानजमनाशयम् ।

७ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

८ ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्

९ जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

१० तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।

११ हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तद-भावः ।

१२ अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।

१३ ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।

१४ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।

१५ वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।

१६ न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।

१७ तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।

१८ सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

१९ न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।

२० एकसमये चोभयानवधारणम् ।

२१ चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च

२२ चित्तेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।

२३ द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।

२४ तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।

२५ विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।

२६ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।

२७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।

२८ हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।

२९ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म-मेघः समाधिः ।

३० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।

३२ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।

३३ क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।

३४ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।

इति चतुर्थः कैवल्यपादः ॥४॥

समाप्तञ्चैतत् पातञ्जलं योगदर्शनम् ।

—:*:—